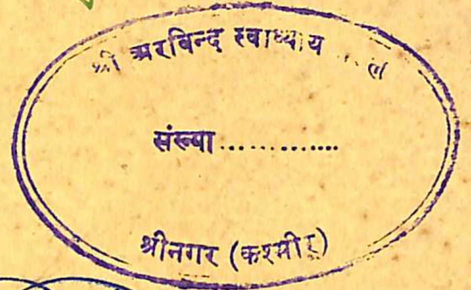
वर्ष १५ अंक १ फरवरी १९५७

अदिति

सह

भारत माता





अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द



पत्रिका का शुल्क

वार्षिक ६)   एक साधारण अङ्क १।।।)

विदेश का शुल्क

वार्षिक १२।। शिलिंग   एक अङ्क ३।। शिलिंग

विशेषांकों का शुल्क

श्रीअरविंद—अपने तथा श्री माताजी के विषय में

(अगस्त ५४ से अगस्त ५५ तक पांच अंकों में) १०।।)

अदिति

सह

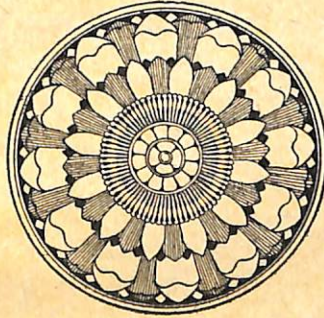
भारत माता

सत्तावनवीं कला

श्रीमाताजीके जन्म-दिवस, २१ फरवरी १९५७ के उपलक्ष्य में

भारतीय संस्कृतिके आधार

(धारावाहिक–६)



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

*

सूचना

इस अंकके साथ '**भारतीय संस्कृतिके आधार**' शीर्षक लेखमाला समाप्त हो रही है। श्रीअरविन्दकी दिव्य वाणीका ठीक-ठीक अनुवाद करना प्रायः असंभवसा ही है। हमने अपनी ओरसे यथाशक्ति प्रयत्न किया है। जो लोग मूल पुस्तक पढ़ सकते हों वे Foundations of Indian Culture नामक अंगरेजी पुस्तकका अध्ययन अवश्य करें। भारतीय संस्कृतिको समझने तथा भारतकी सच्ची महानताको जाननेके लिये इसे पढ़ना अत्यंत आवश्यक है।

अब हम अगले अंकसे नाना विषयोंपर श्रीमाताजीकी दिव्य वाणीका अनुवाद प्रकाशित करनेका विचार कर रहे हैं। आश्रमके बच्चोंके लिये श्रीमाताजी प्रति सप्ताह क्लास लिया करती हैं और उस क्लासमें बच्चे जो प्रश्न करते हैं उनका उत्तर श्रीमाताजी देती हैं। उन्हीं उत्तरोंके आधारपर तैयार किये गये लेखोंको हम धारावाहिक प्रकाशित करेंगे।

श्रीमाताजीके जन्मदिवस २१ फरवरीके दर्शनोत्सवके उपलक्षमें इस वर्ष श्रीमाताजीका एक नया तिरंगा चित्र तैयार किया जा रहा है और उसे भी हम अप्रैल-अंकके साथ ही देंगे।

——संपादक

प्रबन्ध-संपादक, श्रीकेशवदेव पोद्दार (३२ रामपार्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता-२२); प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)।

Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry.
93/57/2/1200

भारतीय संस्कृतिके आधार

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

(नवंबर १९५६ के अंकसे आगे)

विषय-सूची

भारतीय संस्कृतिके आधार

३

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

पंद्रहवां अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

मानव-संस्कृतिके लिये अत्यंत महत्त्व रखनेवाली वस्तुओंमें तथा उन कार्यप्रवृत्तियोंमें जो मनुष्यको एक मानसिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, बौद्धिक, नैतिक और सौंदर्यप्रिय प्राणीके रूपमें उसकी श्रेष्ठतम संभाव्यताओंतक उठा ले जाती हैं, भारतीय सभ्यताकी महानताका वर्णन मैं पिछले अध्यायोंमें कर चुका हूं। इन सभी विषयोंमें आलोचकोंके मिथ्या आक्षेप उस उच्चता, विशालता एवं गंभीरताके आगे तुरंत छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जो तब प्रकट होती हैं जब हम भारतीय संस्कृतिके मूल भाव और उद्देश्यके यथार्थ बोधके प्रकाशमें तथा इसकी वास्तविक सफलतापर सूक्ष्म विवेकशील दृष्टि डालते हुए इसके समग्र स्वरूप तथा इसके सभी अंगोंका अवलोकन करते हैं। इस प्रकार अवलोकन करनेपर केवल इतना ही प्रकट नहीं होता कि भारतीय सभ्यता महान् है वरन् यह भी कि यह उन छः महत्तम सभ्यताओंमें एक है जिनका इतिवृत्त हमें आज भी उपलब्ध है। परंतु ऐसे बहुतसे लोग हैं जो मन और आत्माके विषयोंमें तो भारतकी उपलब्धिकी महानताको स्वीकार करेंगे पर फिर भी यह कहेंगे कि वह जीवनमें असफल रहा है, उसकी संस्कृति जीवनका वैसा सबल, सफल या प्रगतिशील संगठन करनेमें समर्थ नहीं हुई है जिसका दृष्टांत यूरोप हमारे सामने रखता है, और वे यह भी कहेंगे कि कम-से-कम अंतमें भारतके उच्चतम मनीषी जीवनसे संन्यासकी ओर तथा कर्म और संसारका त्याग करके अपनी निजी आध्यात्मिक मुक्तिकी व्यक्तिगत खोज करनेकी ओर झुक गये। अथवा (वे यह कहेंगे कि) अधिक-से-अधिक वह उन्नतिकी एक विशेष सीमातक ही पहुंच पाया और उसके बाद उसकी प्रगति रुक गयी और अवनति होने लगी।

यह आरोप आजके मानदंडोंके अनुसार विशेष बल रखता है क्योंकि आधुनिक मनुष्य, यहांतक कि आधुनिक सुशिक्षित मनुष्य भी सर्वथा अभूतपूर्व मात्रा में एक ऐसा 'पोलितिकान जून' (Politikon zoon) अर्थात् एक ऐसा राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीव है

या बनना चाहता है जो बाह्य जीवनकी दक्षताकी अन्य सब चीजोंसे बढ़कर कद्र करता है और मन तथा आत्माकी चीजोंको ऐकांतिक रूपसे नहीं तो मुख्य रूपसे मानवजातिकी जीवन-संबंधी और यांत्रिक प्रगतिमें सहायक होनेके कारण ही महत्त्व प्रदान करता है : उसमें प्राचीन लोगोंकी वह दृष्टि नहीं है जो ऊपर उच्चतम ऊंचाइयोंकी ओर देखती थी और मानसिक तथा आध्यात्मिक विषयोंमें उपलब्धि प्राप्त करनेको मानव संस्कृति और प्रगतिके लिये यथा-संभव अधिक-से-अधिक महान् दान मानती हुई उसे उसकी अपनी खातिर असंदिग्ध प्रशंसा या गंभीर सम्मानके भावके साथ देखती थी। और यद्यपि यह आधुनिक प्रवृत्ति अतिरंजित और कुत्सित है तथा अपनी अतिरंजनामें अवनतिकारक है, मानवताके आध्यात्मिक विकास-की विरोधिनी है, तथापि इसके पीछे इतना सत्य अवश्य है कि जहां किसी संस्कृतिकी प्रथम उपयोगिता मानवकी आंतरिक सत्ता अर्थात् मन, अंतरात्मा एवं आत्माको उन्नत और विशाल बनानेकी उसकी शक्तिमें निहित है, वहां उसे तबतक पूर्ण रूपसे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता जबतक वह उसकी बाह्य सत्ताको भी गढ़कर उच्च और महान् आदर्शोंकी ओर प्रगति करने-के एक स्वरतालका रूप नहीं दे देती। प्रगतिका सच्चा आशय यही है और इसके अंगके रूपमें यह आवश्यक है कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन स्वस्थ हो, एक ऐसी शक्ति और क्षमता हो जो जातिको जीवित रहने, विकसित होने तथा सामूहिक पूर्णताकी ओर सुरक्षित रूपसे बढ़नेके योग्य बनाये, और एक ऐसी सजीव नमनशीलता और अनुकूलता हो जो मन और आत्माको बाहरकी ओर सतत प्रकट होते रहनेके लिये अवकाश दे। यदि कोई संस्कृति इन उद्देश्योंको पूरा नहीं करती तो स्पष्ट ही या तो उसकी मूल धारणाओं-में अथवा, उसकी समग्रतामें या उसकी क्रियान्वितिमें कहीं कोई दोष है जो पूर्ण और सर्वां-गीण रूपमें उपयोगी होनेके उसके दावेको बहुत अधिक खर्व करता है।

भारतीय समाजका आंतर एवं बाह्य जीवन जिन आदर्शोंके द्वारा संचालित होता था वे उच्चात्युच्च कोटिके थे, उसकी सामाजिक व्यवस्थाका आधार अजेय रूपमें सुदृढ़ हो चुका था, उसके अंदर जो प्रबल जीवनी-शक्ति कार्य कर रही थी वह एक असाधारण ऊर्जा, समृद्धि और सुख-सुविधाका सृजन करती थी और उसने जिस जीवनका संघटन किया था वह अपनी ऐश्वर्यशालितामें, एकतागत विविधतामें, सुन्दरता, उत्पादकता और गतिमयतामें अद्भुत था। भारतीय इतिहास, शिल्प और साहित्यके समस्त अभिलेख इस प्रकारके सांस्कृतिक जीवनकी साक्षी देते हैं और इसके ह्रास और विघटनके समयमें भी इसकी कुछ छाप बची रहती है जो, अस्पष्ट और मद्धिम रूपमें ही क्यों न हो, भारतके अतीतकी महानताकी याद दिलाती है। तो फिर जीवन-शक्तिके एक साधनके रूपमें भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध जो अभियोग लगाया जाता है उसका अर्थ क्या है और वह कहांतक ठीक है? अपने अतिरंजित रूपमें यह ह्रास और विघटनके विशेष रूपों एवं अवनतिके लक्षणोंपर ही आधारित है; उन्हींको (भ्रान्तिवश) विगत कालके लक्षणोंके रूपमें पढ़कर महानताके युगपर भी आरोपित कर दिया

गया है, और इसका अर्थ यह है कि कोई स्वतन्त्र या सबल राजनीतिक संगठन कायम करनेमें भारत सदैव अयोग्य सिद्ध हुआ है, वह निरन्तर ही एक विभक्त एवं अपने सुदीर्घ इतिहासके अधिकतर कालमें परतंत्र राष्ट्र रहा है, अतीतमें उसकी आर्थिक व्यवस्थाके चाहे कोई भी गुण——यदि कोई गुण थे भी तो——क्यों न रहे हों, पर वह एक अनमनीय एवं स्थितिशील व्यवस्था ही बनी रही जिसके परिणामस्वरूप वह वर्तमान अवस्थाओंमें दरिद्रता और विफलताका शिकार हो गया है, इसी प्रकार उसका समाज ऊंची-नीची श्रेणियोंकी एक अप्रगतिशील परंपरा बना रहा जिसपर जातपांतका भूत सवार था और जिसमें अर्द्ध-बर्बर कुप्रथाओंकी भरमार थी। अतएव उसकी वह समाज-व्यवस्था केवल भूतकालके भग्नावशेषोंके स्तूपमें टूटी-फूटी रद्दी चीजोंके बीच फेंक देनेके लायक ही है और उसकी जगह यूरोपीय समाज-व्यवस्थाकी स्वतंत्रता, सबलता और पूर्णताको या कम-से-कम उसकी प्रगतिशील संभाव्य पूर्णताको प्रतिष्ठित करना ही उचित है। सुतरां, इन सब विषयोंमें पहले वास्तविक तथ्यों और उनके अर्थका दृढ़तापूर्वक पुनः प्रतिपादन करना आवश्यक है और उसके बाद ही भारतीय संस्कृतिके राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पहलुओंपर कोई मत प्रकाशित करना संभव होगा।

भारतकी राजनीतिक अक्षमताकी कहानी उसकी ऐतिहासिक विकास-धाराको गलत दृष्टिसे देखने और उसके प्राचीन भूतकालका पर्याप्त ज्ञान न होनेके कारण उद्भूत हुई है। यह धारणा बहुत समयतक प्रचलित रही है कि वह एक अधिक स्वतंत्र प्रकारकी आदिम आर्य या वैदिक समाज-व्यवस्था और राष्ट्र-व्यवस्थासे एक ऐसी व्यवस्थामें जा पहुंचा जिसपर सामाजिक रूपमें एकदम ही ब्राह्मणोंके धर्मशासनकी स्वेच्छाचारिताकी छाप थी और राजनीतिक रूपमें पूर्वीय, अर्थात् पश्चिम-एशियाई ढंगके निरंकुश राजतंत्रकी। ऐसी व्यवस्थामें पहुंचनेके बादसे वह सदैव इन्हीं दो चीजोंमें फंसा रहा है। भारतीय इतिहासके इस सरसरी अध्ययनको उसके अधिक सतर्क एवं प्रबुद्ध विद्वानोंने निर्मूल सिद्ध कर डाला है और असली तथ्य सर्वथा भिन्न प्रकारके हैं। यह सच है कि भारतने उस प्रतिद्वंद्वितापूर्ण और उत्पीड़क व्यवसायवादका या स्वाधीनता और ढोंगपूर्ण जनतंत्रके संसदीय संगठनका विकास कभी नहीं किया जो यूरोपीय सभ्यताके विकास-चक्रके बुर्जुआ या वैश्य-युगकी विशेषताएं हैं। परंतु अब वे दिन बीत रहे हैं जब इन चीजोंको सामाजिक और राजनीतिक प्रगतिकी आदर्श अवस्था एवं अंतिम बात मानकर बिना सोचे-विचारे इनकी प्रशंसा करनेका फैशन था, अब इनकी त्रुटियां दिखलायी पड़ रही हैं और एक पूर्वीय सभ्यताकी महानताको इन पश्चिमी प्रगतियोंके मानदण्डसे नापनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भारतीय विद्वानोंने भारतके अतीतमें जनतंत्रके आधुनिक विचारों एवं नमूनों और यहांतक कि संसदीय प्रणालीको भी पढ़नेका यत्न किया है, परंतु मुझे यह प्रयत्न भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। यदि पश्चिमी परिभाषाओंका प्रयोग करना आवश्यक ही हो तो हम कह सकते हैं कि भारतीय शासनप्रणालीमें जनतंत्रका शक्तिशाली

तत्त्व विद्यमान था, यहांतक कि ऐसी सभा-परिषदें भी थीं जो पार्लियामेंट-पद्धतिसे कुछ साम्य प्रदर्शित करती हैं। परंतु वास्तवमें ये विशेष तत्त्व भारतके अपने ही ढंगके थे; ये बिलकुल वैसी चीज नहीं थे जैसी कि आधुनिक पार्लियामेंटें और आधुनिक जनतंत्र हैं। और इन्हें यदि इस प्रकार समझा जाय तो ये भारतवासियोंकी उस राजनीतिक क्षमताका एक कहीं अधिक अद्भुत प्रमाण उपस्थित करते हैं जो उन्होंने इनको एक सजीव रूपमें राष्ट्रके सामुदायिक मन और शरीरकी समष्टिके अनुकूल बनाकर प्रदर्शित की थी, पर इन्हें पाश्चात्य समाज और उसके सांस्कृतिक विकासक्रमकी निजी आवश्यकताओंके एक अतिभिन्न मानदंडके द्वारा परखनेपर तो हमें इनसे इतनी विलक्षण राजनीतिक क्षमताका परिचय नहीं मिलता।

भारतीय शासन-प्रणालीका सूत्रपात राष्ट्रतंत्रके उस विशेष रूपसे हुआ जिसका संबंध सामान्यतया आर्य जातियोंके प्राचीन इतिहाससे माना जाता है; परंतु इसकी कुछ विशेषताएं और भी अधिक व्यापक ढंगकी हैं और वे मानवजातिके सामाजिक विकासकी और भी अधिक प्राचीन अवस्थासे संबंध रखती हैं। यह कुल या गोष्ठीकी प्रणाली थी जो कुल या जातिके सभी स्वतंत्र मनुष्योंकी समानताके सिद्धांतपर आधारित थी; यह आरंभमें प्रादेशिक आधारपर दृढ़तापूर्वक स्थापित नहीं थी, समय-समयपर स्थान-परिवर्तन करनेकी प्रवृत्ति तब भी लोगोंमें प्रत्यक्ष रूपमें विद्यमान थी या फिर दबाव पड़नेपर वह पुनः-पुनः आ जाती थी और किसी प्रदेशमें जो लोग निवास करते थे उन्हींके नामसे वह प्रसिद्ध हो जाता था, जैसे कुरु-देश या केवल कुरु, मालव देश या केवल मालव। जब किसी प्रदेशकी निश्चित सीमाओंके भीतर स्थिर रूपसे निवास करनेकी प्रवृत्ति पैदा हो गयी तो उसके बाद भी कुल या गोष्ठीकी प्रणाली कायम रही, पर तब एक स्थिर ग्राम-समाज ही उसकी मूल इकाई या घटक अवयव बन गया। सामुदायिक विचार-विमर्शके लिये, यज्ञ और पूजाके लिये या युद्धके सैन्य-दलके रूपमें जनसाधारण, **विशः**, एक सभाके रूपमें एकत्र होते थे। उनकी ऐसी सभा ही दीर्घकालतक जनसमुदायकी शक्तिका चिह्न तथा सक्रिय सार्वजनीन जीवनका साधन रही। राजा उस सभाका अध्यक्ष तथा प्रतिनिधि होता था, परंतु जब उसका पद एक वंशपरंपरागत अधिकार बन गया उसके बाद भी दीर्घकालतक वह अपने वैधिक निर्वाचन या अनुमोदनके लिये जनताकी स्वीकृतिपर ही निर्भर बना रहा। यज्ञकी धार्मिक संस्थाने समय पाकर पुरोहितों और अंतःप्रेरित गायकोंकी एक श्रेणीका विकास किया, ऐसे लोगोंकी श्रेणीका विकास किया जो कर्मकांडके जाननेवाले अथवा यज्ञके प्रतीकोंके पीछे विद्यमान गुह्य ज्ञानसे संपन्न होते थे और जो महान् ब्राह्मण-समाजके बीज-रूप थे। आरंभमें ये वंशानुक्रम-से पुरोहिताई नहीं करते थे, बल्कि अन्यान्य धंधोंको भी अपनाते थे और अपने सामान्य जीवनमें सर्वसाधारण लोगोंके ही समान होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू-शुरूमें समाजका यही स्वतंत्र और सहज-स्वाभाविक संघटन संपूर्ण आर्यावर्तमें व्यापक रूपसे प्रचलित था।

इस आदिम रूपमेंसे बादमें जो रूप विकसित हुआ उसने कुछ हदतक विकासकी उस साधारण पद्धतिका ही अनुसरण किया जो कि अन्य समाजोंमें देखनेमें आती है; पर साथ ही उसने अपनी कुछ अत्यद्भुत विशेषताएं भी प्रकट कीं जिन्होंने हमारी जातिकी विलक्षण मनो-वृत्तिके कारण उसकी राष्ट्र-व्यवस्थाके स्थिर अंग एवं प्रमुख विशेषताएं बनकर भारतीय सभ्यताके राष्ट्रनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अंगोंपर अपनी एक अलग ही छाप लगा दी। आनुवंशिकताके सिद्धांतका प्रादुर्भाव एक बहुत शुरूकी अवस्थामें ही हो गया था और समाज-पर इसका प्रभाव एवं प्रभुत्व निरंतर बढ़ता ही चला गया जिससे कि अंतमें यह सभी जगह उसके कार्य-कलापके संपूर्ण संगठनका आधार बन गया। वंशानुगत राजतंत्रकी स्थापना हुई, एक शक्तिशाली शासक और क्षात्र वर्ग उत्पन्न हो गया, शेष लोगोंको व्यापारियों, शिल्पियों और कृषकोंकी एक पृथक् श्रेणीके रूपमें विभाजित कर दिया गया और फिर सेवकों तथा श्रमिकोंकी एक दास या निम्नश्रेणीका भी जन्म हो गया——शायद कभी तो विजयके परिणाम-स्वरूप पर अधिक संभव या सामान्य रूपमें आर्थिक आवश्यकताके कारण। भारतवासियोंके मनमें प्राचीन कालसे ही जो धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तिकी प्रधानता रही है उसीके फल-स्वरूप यहां समाज-व्यवस्थाके शिखरपर ब्राह्मण-संप्रदायका, पुरोहितों, पंडितों, विधानकारों एवं वेदोंकी पवित्र ज्ञान-निधिके रक्षकोंका आविर्भाव हुआ। अवश्य ही, इस प्रकारके विकास-का दृष्टांत अन्य देशोंमें भी पाया जाता है, किंतु इसे जैसी स्थायिता, सुनिश्चितता एवं परम महत्ता यहां प्रदान की गयी है वैसी और कहीं भी देखनेमें नहीं आती। अन्य देशोंमें, जहां लोगोंका मनोभाव भारतकी अपेक्षा कम जटिल है, इस प्रकारकी प्रधानताका परिणाम संभवतः यह होता कि पुरोहितोंका राज्य कायम हो जाता: किंतु भारतमें यद्यपि ब्राह्मणोंका प्रभाव निरंतर बढ़ता ही चला गया और अंतमें तो वह सर्वोपरि हो गया फिर भी उन्होंने राज-सत्तापर अपना अधिकार कभी नहीं जमाया किंवा वे नहीं जमा सके। राजा और जनसाधा-रणके अति पवित्र पुरोहितों, विधायकों और अध्यात्म-गुरुओंके रूपमें उनका निश्चय ही बड़ा भारी प्रभाव था, परंतु वास्तविक या सक्रिय राजशक्ति राजा, अभिजात क्षत्रिय-वर्ग और जनसाधारणके हाथोंमें ही बनी रही।

बीचमें कुछ समय ऐसा भी आया जब ऋषिको एक विशिष्ट और असाधारण पद दिया जाता था। ऋषि उस व्यक्तिको कहते थे जो उच्चतर आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञानसे संपन्न होता था और जो चाहे किसी भी वर्णमें क्यों न उत्पन्न हुआ हो, पर अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्वके बलपर सभी लोगोंपर प्रभुत्व रखता था। राजा भी उसका सम्मान करता तथा उससे परामर्श करता था। कभी-कभी वह राजाका धर्मगुरु भी होता था और सामाजिक विकासकी तत्कालीन तरल अवस्थामें केवल वही नये आधारभूत विचारोंको विक-सित करने तथा लोगोंकी सामाजिक-धार्मिक धारणाओं और प्रथाओंमें सीधे और तुरंत परि-वर्तन लानेमें महत्त्वपूर्ण भाग लेनेकी सामर्थ्य रखता था। भारतीय मानसका यह एक विशेष

लक्षण था कि वह अपने जीवनके सभी, यहांतक कि अत्यंत बाह्य सामाजिक और राजनीतिक व्यापारोंको भी आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करने और उनके लिये धर्मानुमोदन प्राप्त करनेका यत्न करता था, सभी वर्गों और कार्योंके लिये एक अनिवार्य आदर्शकी स्थापना करता था जो केवल कुछ एक प्रसंगोंको छोड़कर अधिकारों और शक्तियोंका नहीं बल्कि कर्तव्योंका आदर्श होता था, उनके कर्मके नियम, एक आदर्श रीति और स्वभाव, चारित्र्य और कर्मगत भावना-की एवं आध्यात्मिक अर्थसे युक्त धर्मकी स्थापना करता था। यह ऋषिका ही कार्य था कि वह राष्ट्रके मानसपर इस छापको दृढ़तया अंकित कर दे, इसे चिरस्थायी और सुरक्षित रखे, आदर्श धर्म और उसके व्यावहारिक अर्थकी खोज और व्याख्या करे, लोगोंके जीवनको आध्या-त्मिक और धार्मिक भावपर प्रतिष्ठित सभ्यताके सुघड़ आदर्शों और अर्थपूर्ण रूपोंमें ढाल दे। पीछेके युगोंमें हम देखते हैं कि ब्राह्मण स्मृतिकारोंके विभिन्न दलोंने अपनी स्मृति-संहिताओंको, यद्यपि वे अपने-आपमें पहलेसे विद्यमान विधि-विधानों और प्रथाओंके ही वर्णनमात्र थीं, प्राचीन ऋषियोंके नामसे ही प्रचलित किया। बादके कालमें भारतके सामाजिक-राजनीतिक संगठनमें चाहे जो भी परिवर्तन हुए हों पर इस मूल वैशिष्ट्यका प्रभाव फिर भी बना रहा, और यहांतक कि उस समय भी बना रहा जब कि अंततोगत्वा सभी चीजें एक स्वतंत्र और सजीव प्रथाका अनुसरण करते हुए निरंतर आगे बढ़नेके बजाय एक रूढ़ि एवं परंपराका रूप धारण करने लगीं।

इस प्राचीन प्रणालीका राजनीतिक विकास भारतके विभिन्न भागोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे हुआ। अन्य अनेक देशोंकी भांति यहां भी इसके साधारण विकासकी दिशा यह थी कि शासन और प्रशासनकी प्रणाली अधिकाधिक जटिल होती गयी और उसके केंद्र, अधिपति एवं एकीकारक सत्ताके रूपमें राजाके प्रभुत्वपर क्रमशः अधिकाधिक बल दिया जाने लगा और अंतमें इस राजतंत्रात्मक प्रणालीने ही प्रबल होकर सार्वभौम रूप ग्रहण कर लिया। परंतु दीर्घकालतक एक विपरीत प्रवृत्तिने इसका विरोध करके इसके विस्तारको रोके रखा। उस प्रवृत्तिके परिणामस्वरूप पौर या प्रादेशिक या 'राज्यसंघाधीन गणतंत्रका प्रादुर्भाव हुआ और उसे प्रबल एवं स्थायी जीवनी-शक्ति भी प्राप्त हुई। राजा या तो उस गणतंत्रका वंशानुगत या निर्वाचित कार्यसंचालक अध्यक्ष बन गया अथवा वह एक थोड़ेसे नियत कालके लिये शासनका परिचालन करनेवाला एक विचारपति ही रह गया या फिर राज्यकी शासन-प्रणालीसे उसका अस्तित्व ही सर्वथा विलुप्त हो गया। अवश्य ही, अनेक स्थानोंमें यह परि-वर्तन व्यवस्थापिका सभाओंकी शक्तिके स्वाभाविक विकासके द्वारा ही हुआ होगा, परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ अन्य स्थानोंमें यह किसी प्रकारकी क्रांतिके द्वारा ही साधित हुआ और साथ ही राजतंत्रात्मक तथा प्रजातंत्रात्मक शासनके भाग्योंमें उलट-फेर भी होता रहा, अर्थात् दोनोंके काल पलट-पलटकर आते रहे। अन्ततोगत्वा भारतकी कुछ एक जातियोंमें प्रजातांत्रिक प्रणालीका प्रभुत्व दृढ़ रूपसे प्रतिष्ठित हो गया और वह एक सबल एवं स्थिर शासन-व्यवस्था कायम करने

तथा अनेकों सदियोंतक चिरस्थायी रहनेके योग्य सिद्ध हुई। उन जातियोंकी शासन-व्यवस्था कहीं-कहीं तो लोकतांत्रिक सभाके द्वारा पर अधिकतर स्थानोंमें कुलीन-सभाके द्वारा परि-चालित होती थी। दुर्भाग्यका विषय है कि इन भारतीय गणराज्योंके संविधानके ब्योरोंके बारेमें हम बहुत ही कम जानते हैं और इनके अंदरूनी इतिहाससे तो बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। परंतु इस बातका प्रमाण स्पष्ट रूपमें पाया जाता है कि इनका राजनीतिक संगठन अपनी उत्कृष्टताके लिये तथा इनका सैनिक संगठन अपनी दुर्धर्ष कार्यदक्षताके लिये संपूर्ण भारतमें सुविख्यात था। बुद्धका एक मनोरंजक वचन है कि जबतक प्रजातांत्रिक संस्था-ओंको उनके शुद्ध और बलशाली रूपमें सुरक्षित रखा जायगा तबतक इस प्रकारका एक छोटा-सा राज्य भी मगधके शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजतंत्रके शस्त्रास्त्रोंसे भी अजेय रहेगा। राजनीतिक लेखकोंने भी इस मतका प्रचुर रूपमें समर्थन किया है। उनकी राय है कि प्रजातांत्रिक राज्योंके साथ मैत्री करनेसे किसी राजाको अत्यंत ठोस और मूल्यवान् राजनीतिक एवं सैनिक सहायता मिल सकती है और वे सलाह देते हैं कि प्रजातंत्र राष्ट्रों-का दमन शस्त्रास्त्रोंकी शक्तिसे नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस उपायसे सफलता मिलने-की संभावना अत्यंत संदिग्ध ही रहेगी, वरंच उनका दमन कहीं अधिक माकियावेली (Machiaveli) के साधनोंसे ही करना चाहिये, —उस प्रकारके साधनोंसे जिनका प्रयोग मैसिडोन (Macedon) के फिलिपने यूनानमें वास्तवमें किया था और जिनका लक्ष्य होता है उनकी आंतरिक एकताकी जड़ें खोद डालना तथा उनके संविधानकी कार्यदक्षताको नष्ट-भ्रष्ट कर देना।

ये गणराज्य बहुत प्राचीन कालमें ही स्थापित हो चुके थे और ईसासे पूर्वकी छठी शता-ब्दीमें पूरे जोर-शोरसे कार्य कर रहे थे, अतएव ये यूनानके शानदार पर अस्थायी और वि-क्षुब्ध नगर-गणतंत्रोंके समकालीन थे, पर भारतमें राजनीतिक स्वाधीनताका यह रूप यूनान-की प्रजातांत्रिक स्वाधीनताके युगके बाद भी दीर्घकालतक जीवित रहा। प्राचीन भारतीय मानसको जो राष्ट्रनीतिक आविष्कारमें कम उर्वर नहीं था, दृढ़ संगठन और सुस्थिर संवैधा-निक व्यवस्था स्थापित करनेकी योग्यतामें भूमध्यसागरके तटपर बसनेवाले अशांत और चंचल-मति लोगोंके मनसे श्रेष्ठ ही मानना होगा। प्रतीत होता है कि इनमेंसे कुछ गणराज्योंकी तेजस्वी स्वाधीनताका इतिहास प्रजातांत्रिक रोमकी अपेक्षा अधिक सुदीर्घ और सुप्रतिष्ठित रहा है। क्योंकि वे चंद्रगुप्त और अशोकके प्रतापशाली साम्राज्यके विरुद्ध भी अपने अस्ति-त्वको अक्षुण्ण बनाये रहे और ईसवी सन्‌की आरंभिक शताब्दियोंतक भी जीवित थे। परंतु उनमेंसे किसीने भी रोमके प्रजातंत्रकी आक्रामक भावनाका और विजय पाने तथा सुविस्तृत संगठन करनेकी क्षमताका विकास नहीं किया; वे अपने स्वतंत्र आभ्यंतरिक जीवन तथा अपनी स्वाधीनताको सुरक्षित रखनेभरसे संतुष्ट रहे। भारतने विशेषकर सिकंदरके आक्र-मणके बाद ही एकीकरणके आंदोलनकी आवश्यकताका अनुभव किया और ये प्रजातंत्र-राज्य

ही विभाजनके कारण थे : अपने-आपमें शक्तिशाली होते हुए भी वे इस प्रायद्वीपके संगठन-के लिये कुछ भी नहीं कर सके, निःसंदेह संपूर्ण प्रायद्वीप इतना विशाल था कि छोटे-छोटे राज्योंके महासंघकी कोई भी प्रणाली संभव नहीं हो सकती थी--और वस्तुतः प्राचीन युग-में संसारमें ऐसा प्रयास कहीं भी सफल नहीं हुआ, किंही विशेष प्रकारकी संकीर्ण सीमा-ओंके परे विस्तृत होनेकी चेष्टामें यह सदा ही छिन्न-भिन्न हो गया और एक अधिक केन्द्री-भूत शासनके लिये किये गये आंदोलनके विरुद्ध नहीं टिक सका। अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी राजतंत्रात्मक राज्य-प्रणाली ही उन्नत होती गयी और अंतमें राजनीतिक संग-ठनके अन्य सभी रूपोंको पदच्युत करके उसने उनका स्थान ले लिया। प्रजातंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था उसके इतिहाससे लुप्त हो गयी और अब हम केवल सिक्कों तथा जहां-तहां बिखरे पड़े उल्लेखोंके प्रमाणके द्वारा ही इसके विषयमें कुछ बातें जान पाते हैं। साथ ही, यूनानी प्रेक्षकों तथा उनके समकालीन उन राजनीतिक लेखकों और सिद्धांतकारोंके वर्णनोंसे भी हमें इसका कुछ ज्ञान प्राप्त होता है जिन्होंने संपूर्ण भारतमें राजतंत्रात्मक राज्य-प्रणालीका सम-र्थन किया था तथा इसे संपुष्ट और विकसित करनेमें सहायता पहुंचायी थी।

परंतु भारतमें यद्यपि राजाको दैवी शक्तिका प्रतिनिधि और धर्मका संरक्षक मानते हुए उसके राजोचित पद एवं उसके व्यक्तित्वको एक विशेष प्रकारकी पवित्रता तथा महत् प्रभु-तासे संपन्न समझा जाता था, तथापि मुसलमानोंके आक्रमणसे पहले भारतीय राजतंत्र किसी प्रकार भी एक व्यक्तिका स्वेच्छाचारी शासन या निरंकुश तानाशाही नहीं था; फारसके प्राचीन राजतंत्र या पश्चिमी और मध्य-एशियाके राजतंत्रों अथवा रोमके साम्राजीय शासन या यूरोपकी परवर्त्ती तानाशाहियोंसे यह कुछ भी साम्य नहीं रखता था : यह पठान या मुगल बादशाहोंकी शासन-प्रणालीसे बिलकुल ही भिन्न प्रकारका था। भारतीय राजा प्रशासनिक और न्याय-संबंधी कार्योंमें सर्वोपरि शक्ति रखता था, राज्यकी समस्त सामरिक शक्तियां उसीके हाथमें होती थीं और अपनी मंत्रिपरिषद्के साथ अकेला वही शांति और युद्धके लिये उत्तर-दायी होता था और समाजके जीवनकी सुव्यवस्था और सुख-सुविधाका सामान्य निरीक्षण और नियंत्रण भी वही करता था। परंतु उसकी यह शक्ति व्यक्तिगत नहीं होती थी, साथ ही इसे कई-एक संरक्षणोंसे परिवेष्टित रखा जाता था ताकि राजा इसका दुरुपयोग न कर सके और न बलपूर्वक इसपर अपना अधिकार ही जमा सके। इसके अतिरिक्त, इसे अन्य सार्वजनिक अधिकारियों और नाना हितोंके प्रतिनिधियोंकी स्वाधीनताओं और शक्तियोंके द्वारा भी सीमामें रखा जाता था। वे अधिकारी और प्रतिनिधि, एक प्रकारसे, प्रभुताके प्रयोगमें तथा शासनव्यवस्थाके विधान और नियंत्रणमें उसके छोटे सहभागी होते थे। सच पूछो तो वह एक सीमाबद्ध या संवैधानिक राजा होता था, पर जिस मशीनरीके द्वारा राज्य-के संविधानकी रक्षा की जाती थी तथा राजाकी शक्तिको सीमामें रखा जाता था वह उससे भिन्न प्रकारकी थी जो कि यूरोपके इतिहासमें पायी जाती है। यहांतक कि उसके शासन-

की स्थायिता भी मध्ययुगीन यूरोपीय राजाओंके शासनकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रजाकी इच्छा और सम्मतिके बराबर बने रहनेपर निर्भर करती थी।

राजासे भी बड़ा राजा था धर्म, अर्थात् धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, न्यायिक और प्रथानुगत विधान जो लोगोंके जीवनको मूलतः परिचालित करता था। इस निर्व्यक्तिक धर्म-सत्ताको इसके मूल भावमें तथा इसके बाह्य-रूपकी समष्टिमें पवित्र और सनातन माना जाता था। इसका मूल स्वरूप सदा एक ही रहता था, पर समाजके विकासके कारण इसके प्रत्यक्ष आकारमें सजीव और सहज-स्वाभाविक रूपसे जो परिवर्तन आते थे उन्हें इसमें सदा ही समाविष्ट कर लिया जाता था, देशगत और कुलगत तथा अन्य आचार-धर्म इसकी देहके एक प्रकारके गौण और सहचारी अंग थे जिनमें केवल भीतरी प्रेरणासे ही परिवर्तन किया जा सकता था,——और मूल धर्ममें हस्तक्षेप करनेका किसी भी लौकिक सत्ताको कोई निरंकुश अधिकार नहीं था। स्वयं ब्राह्मण भी धर्मसंबंधी लेखोंको सुरक्षित रखनेवाले तथा धर्मके व्याख्याकार थे, वे न तो धर्मकी रचना करते थे न उन्हें अपनी इच्छानुसार उसमें कोई परिवर्तन करनेका ही अधिकार था, यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि अपने मतको प्रामाणिक रूपसे व्यक्त करके वे धर्मके मूलतत्त्व या ब्योरेको परिवर्तित करनेकी इस या उस प्रवृत्तिका समर्थन या विरोध कर सकते थे और करते भी थे। राजा तो धर्मका केवल रक्षक, परिचालक और सेवक होता था, उसके जिम्मे यह कार्य रहता था कि वह धर्मका पालन करवाये और हर प्रकारके अपराध, भयानक उच्छृंखलता तथा धर्मोल्लंघनको रोके। वह स्वयं सबसे पहले धर्मका अनुसरण करने तथा उस कठोर नियमका पालन करनेके लिये बाध्य होता था जिसे यह उसके व्यक्तिगत जीवन और कर्मपर तथा उसके राजकीय पद और प्रभुत्वके क्षेत्र, सामर्थ्यों और कर्तव्योंपर लागू करता था।

धर्मके प्रति राजशक्तिकी इस प्रकारकी अधीनता कोई ऐसा मन-गढ़ंत सिद्धांत नहीं थी जो व्यवहारमें क्रियाशील न हो; क्योंकि सामाजिक-धार्मिक विधानका शासन जनताके संपूर्ण जीवनको सक्रिय रूपसे मर्यादित रखता था और इसलिये वह एक जीवित-जागृत सत्य था तथा राजनीतिक क्षेत्रमें अत्यंत व्यापक और क्रियात्मक परिणामोंको उत्पन्न करता था। इसका मतलब सबसे पहले तो यह था कि सीधे ही कानून बनानेकी शक्ति राजाके पास नहीं थी। उसकी शक्ति प्रशासनसंबंधी आदेशोंकी घोषणा करनेतक ही सीमित थी। उन आदेशोंका निर्धारण तो जातिके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संविधानके अनुरूप ही करना होता था,——और घोषणा करनेकी यह शक्ति भी राजाके सिवा कुछ अन्य अधिकारियोंके पास भी रहती थी; वे इसमें उसके सहभागी होते थे, अर्थात् वे भी उसकी तरह प्रशासनसंबंधी आदेशोंको स्वतंत्र रूपसे जारी करते थे तथा उनका प्रचार करने और उनकी कार्यान्वितिकी देख-रेख करनेका अधिकार रखते थे। इसके अतिरिक्त, अपने प्रशासनके सामान्य भाव और स्वरूपमें तथा इसके प्रभावपूर्ण परिणाममें वह प्रजागणकी प्रकट या

अप्रकट इच्छाकी अवहेलना नहीं कर सकता था।

धार्मिक कार्योंमें सर्वसाधारणको सुनिश्चित स्वाधीनता प्राप्त थी तथा कोई भी लौकिक सत्ता सामान्यतया उसका अतिक्रम नहीं कर सकती थी; प्रत्येक धार्मिक समाज, प्रत्येक नया या पुरातन धर्म अपनी निजी जीवन-प्रणाली तथा संस्थाओंका निर्माण कर सकता था और उसके धर्माधिकारी या व्यवस्थापक संघ होते थे जो अपने निज क्षेत्रमें पूर्ण स्वतंत्रताका प्रयोग करते थे। राज्यका कोई एक ही धर्म नहीं होता था और न राजा जनताका धर्माध्यक्ष ही होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषयमें अशोकने राजाके अधिकार या प्रभावको विस्तारित करनेकी चेष्टा की थी और अन्य शक्तिशाली राजाओंने भी कभी-कभी छोटे परिमाणमें इस प्रकारकी प्रवृत्तियां प्रदर्शित कीं। परतु अशोककी तथाकथित धर्मसंबंधी राजघोषणाओंमें कोई आदेश जारी नहीं किया गया है वरंच एक धर्मकी स्तुतिमात्र की गयी है, और जो राजा किसी धार्मिक विश्वास या किन्हीं धार्मिक प्रथाओंमें परिवर्तन लाना चाहता था उसे सदा ही, सांप्रदायिक स्वाधीनताके तथा संबद्ध लोगोंकी इच्छाओंका सम्मान करने तथा उनसे पहले ही विचार-विमर्श करनेके अनिवार्य कर्तव्यके भारतीय सिद्धांतके अनुसार, सर्वमान्य अधिकारी व्यक्तियोंकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी अथवा उसे यह विषय विचारके लिये मंत्रणा-परिषद्के सामने पेश करना पड़ता था, जैसा कि प्रसिद्ध बौद्ध परिषदों (संगीतियों) में किया गया था, या फिर उसे विभिन्न धर्मोंके व्याख्याकारोंमें शास्त्रार्थकी व्यवस्था करनी होती थी तथा उसके परिणामको स्वीकार करना पड़ता था। राजा व्यक्तिगत रूपमें किसी विशेष संप्रदाय या धर्ममतका पक्ष ले सकता था और, स्पष्टतः ही, उसकी सक्रिय अभिरुचिका अत्यधिक प्रचारात्मक प्रभाव पड़ सकता था, किंतु फिर भी अपने सार्वजनिक पदके कारण उसे कुछ हदतक निष्पक्ष भावसे, लोकसम्मत सभी धर्मोंका सम्मान और समर्थन करना पड़ता था; यह एक ऐसा नियम था जिससे यह बात समझमें आ जाती है कि क्यों बौद्ध और ब्राह्मण-धर्मी सम्राटोंने इन दोनों ही प्रतिद्वंद्वी धर्मोंको प्रश्रय दिया था। किसी-किसी समय, मुख्यतया दक्षिण भारतमें, राजाके द्वारा धार्मिक मामलोंमें छोटे-मोटे या भीषण अत्याचार किये जानेके दृष्टांत भी मिलते हैं। परंतु ये विस्फोट एक प्रकारका धर्मोल्लंघन ही होते थे जो किसी तीव्र धार्मिक कलहके समय क्षणिक उत्तेजनाके कारण किया जाता था और ये सदा ही स्थानीय एवं अल्पकालीन ही होते थे। पर साधारणतः भारतकी राजनीतिक प्रणालीमें धार्मिक अत्याचार और असहिष्णुताके लिये कोई स्थान नहीं था और इस प्रकारकी स्थिर राष्ट्र-नीतिकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इसी प्रकार जनताका सामाजिक जीवन भी निरंकुश हस्तक्षेपसे मुक्त था। इस क्षेत्रमें राजाके द्वारा कानून बनाये जानेके दृष्टांत बहुत ही कम मिलते हैं और यहां भी, जब कानून बनाया जाता था तो, संबद्ध व्यक्तियोंका मत लेना पड़ता था; उदाहरणार्थ, बौद्धोंके दीर्घकालीन प्राधान्यके कारण वर्ण-व्यवस्थाके अस्तव्यस्त हो जानेके बाद बंगालमें सेन राजाओंने

इसकी पुनर्व्यवस्था या पुनःसंघटन करनेके लिये ऐसा ही किया था। समाजमें परिवर्तन लाया तो जाता था पर कृत्रिम ढंगसे, ऊपरसे, नहीं बल्कि स्वतः ही भीतरसे लाया जाता था और मुख्यतया कुलों या विशेष-विशेष समाजोंको अपने जीवनके नियम, **आचार**, का स्वाभाविक रीतिसे विकास या परिवर्तन करनेके लिये जो स्वाधीनता दी गयी थी, उसके द्वारा लाया जाता था।

इसी प्रकार, शासन-व्यवस्थाके क्षेत्रमें भी राजाकी शक्ति धर्मके प्रचलित संविधानके द्वारा मर्यादित थी। उसका कर लगानेका अधिकार राजस्वके अत्यंत प्रधान स्रोतोंमें तो एक नियत प्रतिशतसे अधिक कर न लगा सकनेकी सीमाके द्वारा सीमित था, कुछ अन्य स्रोतोंमें समाजके विविध अंगोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले संघोंके इस विषयमें प्रायः ही अपना मत-प्रकाश करनेके अधिकारके द्वारा, और फिर इस साधारण नियमके द्वारा सीमित रहता था कि उसका शासन करनेका अधिकार प्रजाजनकी संतुष्टि और सद्भावनापर ही आश्रित है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह सब धर्मके संरक्षक ब्राह्मणोंकी धार्मिक इच्छा या सम्मतिमात्र-का परिणाम नहीं था। स्वयं राजा ही, व्यक्तिगत रूपसे, दीवानी और फौजदारी कानूनको चलानेमें प्रधान विचारपति और सर्वोच्च नियन्ता होता था, परंतु यहां भी उसका पद कार्य-संचालकका ही होता था : कानूनका जो भी स्वरूप निर्धारित हुआ हो उसे अपने न्यायाधीशों-के द्वारा या इन विषयोंके ज्ञाता विधान-निपुण ब्राह्मणोंकी सहायतासे सच्चाईके साथ कार्यान्वित करनेके लिये वह बाध्य होता था। अपनी मंत्रणा-परिषद्‌में उसे केवल वैदेशिक नीति, सैनिक प्रशासन और युद्ध तथा शांति-स्थापनाके एवं शासन-संचालनसंबंधी अनेक कार्योंके बारे-में ही पूर्ण एवं अप्रतिहत प्रभुत्व प्राप्त रहता था। शासन-व्यवस्थाके अंगभूत जो भी कार्य समाजके कल्याण और सुप्रबंध तथा सार्वजनिक सदाचारकी वृद्धि और सुरक्षामें सहायक होते थे उन सबकी, एवं जिन विषयोंका निरीक्षण या नियमन राजसत्ताके द्वारा ही सुचारु रूपसे हो सकता था ऐसे सब विषयोंकी उपयुक्त व्यवस्था करनेके लिये वह स्वतंत्र होता था। कानूनके अनुसार संरक्षण करने एवं दंड देनेका उसे अधिकार होता था और उससे आशा की जाती थी कि वह इस अधिकारका प्रयोग सर्वसाधारणके हित-रूपी फलको और सार्व-जनिक कल्याणकी वृद्धिको कठोरतापूर्वक दृष्टिमें रखकर ही करेगा।

अतएव, साधारणतः, प्राचीन भारतीय राज्य-प्रणालीमें मनमानी स्वेच्छाचारिता या राज-तंत्रीय अत्याचार एवं उत्पीड़नका स्थान नहींके बराबर ही हो सकता था या फिर बिलकुल ही नहीं हो सकता था, उस बर्बर क्रूरता एवं निष्ठुरताकी बात तो दूर रही जो कुछ अन्य देशोंके इतिहासमें इतने सामान्य रूपमें पायी जाती है। तथापि राजाद्वारा धर्मकी अवहेलना करने या राज्य-शासनसंबंधी आदेश जारी करनेकी अपनी शक्तिका दुरुपयोग करनेके कारण ऐसी घटनाओंका होना संभव था; इस प्रकारकी घटनाएं घटित भी हुईं,—यद्यपि इनका जो सबसे बुरा दृष्टांत इतिहासमें मिलता है वह एक विदेशी राजवंशसे संबंध रखनेवाले अत्या-

चारी राजाका है। अन्य उदाहरणोंमें ऐसा मालूम होता है कि किसी स्वेच्छाचारी राजाकी सनक, अत्याचार या अन्यायके किसी लंबे विस्फोटका परिणाम यह हुआ कि प्रजाने शीघ्र ही उसका प्रबल विरोध या उसके विरुद्ध जबर्दस्त विद्रोह किया। विधान-निर्माताओंने अत्याचारकी संभावनाको दृष्टिमें रखकर उसकी रोकथामके लिये एक धारा बना दी थी। राजपदकी पवित्रता और मान-मर्यादा स्वीकार करते हुए भी यह नियम बनाया गया था कि यदि राजा धर्मको सच्चाईके साथ कार्यान्वित करना छोड़ दे तो प्रजा उसका आदेश माननेके लिये बाध्य नहीं होगी। प्रजाके संतोषके अनुसार शासन करनेमें अयोग्यता, और इस अनिवार्य कर्तव्यका उल्लंघन उसे पदच्युत करनेके लिये सिद्धांततः और कार्यतः पर्याप्त कारण होते थे। मनुने तो यहांतक व्यवस्था दी है कि अन्यायी और अत्याचारी राजाको पागल कुत्तेकी तरह मार डालना प्रजाका कर्तव्य है। और एक सर्वोच्च प्रामाणिक स्मृतिकारने चरम कोटिकी अवस्थाओंमें राजविद्रोह एवं राजहत्याके अधिकार किंवा कर्तव्यतकका इस प्रकारका जो समर्थन किया है वह इस बातको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है कि राजाओंकी निरंकुशता या ईश्वरप्रदत्त अनियंत्रित अधिकार भारतीय राज्यप्रणालीके उद्देश्यका कोई अंग नहीं था। वस्तुतः, इतिहास और साहित्य दोनोंसे यह पता चलता है कि प्रजा अपने इस अधिकारका प्रयोग सचमुचमें किया करती थी। एक और, अधिक शांतिपूर्ण उपाय था—संबंध-विच्छेद करने या राज्य छोड़कर दूसरे राज्यमें चले जानेकी धमकी देना। इस उपायका प्रयोग अधिक आम तौरपर किया जाता था। बहुधा यही उपाय कर्तव्यच्युत शासककी बुद्धिको ठिकाने लानेके लिये पर्याप्त होता था। यह मजेदार बात है कि दक्षिण भारतमें इधर सत्रहवीं शताब्दीमें भी एक अप्रिय राजाको प्रजाने उससे संबंध विच्छेद कर लेनेकी धमकी दी थी और सर्वसाधारणकी सभाने यह घोषित किया था कि उस राजाको दी गयी किसी भी प्रकारकी सहायता विश्वासघातके कार्यकी भांति निंद्य समझी जायगी। एक और अधिक प्रचलित उपाय यह था कि मंत्रियोंकी परिषद् या जनसाधारणकी सभाओंके द्वारा राजाको पदच्युत कर दिया जाता था। इस प्रकार यहां जो राजतंत्र गठित हुआ था वह कार्यतः संयत, कार्यकुशल और हितकर सिद्ध हुआ, जो कार्य उसे सौंपे गये थे उन्हें उसने सुचारु रूपसे संपन्न किया और जनताके हृदयको स्थायी रूपसे वशमें कर लिया। तथापि राजतंत्रीय प्रणाली भारतकी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाका केवल एक अंग ही थी। अवश्य ही, यह अंग जनताके द्वारा अनुमोदित तथा अत्यंत महत्त्वपूर्ण था, पर जैसा कि हमें प्राचीन प्रजातंत्रोंके अस्तित्वसे पता लगता है, यह उसका कोई अनिवार्य अंग नहीं था। अतएव, यदि हम भारतीय राज्य-प्रासादके सामनेके भागको देखकर ही रुक जायं तथा इसके पीछे आधारके रूपमें जो कुछ विद्यमान था उसे देखनेसे चूक जायं तो हम भारतीय राष्ट्रतंत्रके वास्तविक सिद्धांत और इसकी कार्यपद्धतिको जरा भी नहीं समझ पायेंगे। इसकी संपूर्ण रचनाके मूल स्वरूपका सूत्र तो हमें उस आधारभूत वस्तुमें ही प्राप्त होगा।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

सोलहवां अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

भारतीय शासनतंत्रका सच्चा स्वरूप हमारी समझमें केवल तभी आ सकता है यदि हम इसे एक पृथक् वस्तुके रूपमें, अर्थात् अपनी जातिके चिंतन और जीवनके अन्य अंगोंसे स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले एक यंत्रके रूपमें न देख अपनी सामाजिक सत्ता-रूपी सजीव समष्टिके एक अंगके रूपमें तथा उसके संबंधसे इसपर दृष्टिपात करें।

कोई जाति या कोई महान् मनुष्य-समुदाय, वास्तवमें, एक सुसंगठित सजीव अस्तित्व होता है। इसकी एक सामूहिक अंतरात्मा, मन और शरीर होता है, जिसे सामूहिक नहीं बल्कि सर्वगत या समष्टिगत कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि 'सामूहिक' शब्द इतना यांत्रिक वा निर्जीव है कि अंतरीय सद्वस्तुका ठीक-ठीक बोध नहीं करा सकता। एक पृथक् मनुष्यके स्थूल जीवनकी भांति समाजका जीवन भी जन्म, वृद्धि, यौवन, प्रौढ़ता और ह्रासके चक्रमेंसे गुजरता है। इनमेंसे अंतिम अवस्था यदि काफी आगे बढ़ जाय और इसकी ह्रासोन्मुखी धारा किसी प्रकार रोकी न जा सके तो समाजका जीवन भी वैसे ही नष्ट हो सकता है, जैसे एक मनुष्य बुढ़ापेसे मर जाता है। भारत और चीनको छोड़कर अन्य सभी प्राचीनतर जातियां और राष्ट्र इसी प्रकार मिट गये। परंतु सामूहिक सत्तामें भी पुनरुज्जीवित होने, पूर्वावस्था प्राप्त करने और एक नया चक्र आरंभ करनेकी सामर्थ्य होती है। कारण, प्रत्येक जातिमें एक आत्म-भावना या जीवन-भावना काम कर रही है, जो उसके शरीरकी अपेक्षा कम नश्वर है। यदि वह भावना अपने-आपमें पर्याप्त बलशाली, विशाल एवं शक्तिदायक हो और जातिके मन तथा स्वभावमें इतना पर्याप्त बल, जीवन-शक्ति एवं नमनीयता हो कि वह अपनी सत्ताकी आत्म-भावना या जीवन-भावनाकी शक्ति-का अनवरत विस्तार या नवीन प्रयोग करनेके साथ-साथ उसे स्थायित्व भी दे सके तो वह अपने अंतिम विनाशसे पहले ऐसे अनेक जीवन-चक्रोंमेंसे गुजर सकती है। और फिर, स्वयं यह भावना समष्टि-सत्ताकी आत्माकी अभिव्यक्तिका मूलतत्त्व मात्र है तथा प्रत्येक समष्टि-

गत आत्मा भी उस महत्तर सनातन आत्मसत्ताका प्रकाश एवं वाहन है जो अपने-आपको कालके अंदर प्रकट करती है, इस पृथ्वीपर मानो मानवके क्रमविकासके उतार-चढ़ावोंमेंसे गुजरती हुई मानवताके अंदर अपनी ही निजी परिपूर्णता खोज रही है। अतएव जो जाति सजगताके साथ जीना सीख जाती है, प्रधानतः अपने स्थूल एवं बाह्य जीवनमें ही नहीं, यहांतक कि केवल इसीमें और उस जीवन-भावना या आत्म-भावनाकी शक्तिमें भी नहीं, जो उसके विकासके परिवर्तनोंको नियंत्रित करती है और उसके मनोभाव तथा स्वभाव-की कुंजी है, बल्कि पीछेकी ओर स्थित अंतरात्मा और आत्मामें भी सजगताके साथ जीना सीख जाती है, वह जाति संभवतः कभी भी नष्ट नहीं हो सकती, विलुप्त होकर या दूसरी जातियोंमें विलीन होकर या घुल-मिलकर समाप्त नहीं हो सकती या अपना स्थान किसी नयी जाति एवं समाजके लिये खाली करनेके लिये बाध्य नहीं हो सकती, बल्कि वह अनेक आदिम लघुतर समाजोंको स्वयं अपने जीवनके अंदर मिलाकर और अपनी स्वाभाविक उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर आरूढ़ होकर बिना मरे, अनेक नये जन्मोंमेंसे गुजर सकती है। और, यदि किसी समय ऐसा दीख भी पड़े कि वह सर्वथा समाप्त एवं विनष्ट होनेवाली है, तो भी वह आत्माकी शक्तिसे पुनः अपनी पूर्वावस्था प्राप्त कर एक दूसरा तथा शायद अधिक गौरवशाली चक्र शुरू कर सकती है। भारतका इतिहास एक ऐसी ही जातिके जीवनका इतिहास रहा है।

भारतीय जातिके जीवन, संस्कृति और सामाजिक आदर्शोंको नियंत्रित करनेवाला प्रधान विचार यह रहा है कि मनुष्यको अपनी सच्ची आत्माकी खोज करनी चाहिये और इस आत्मोपलब्धिके लिये तथा अज्ञानमय प्राकृतिक स्थितिसे आध्यात्मिक अवस्थाकी ओर आरोहणके लिये उसे अपने जीवनको एक ढांचे और साधनके रूपमें प्रयुक्त करना चाहिये। निःसंदेह इसके लिये पहले निम्न भौतिक प्राणिक और मानसिक प्रकृतिका विकास पूरा हो जाना आवश्यक है। इस प्रबल विचारको भारतने राजनीतिक और सामाजिक रचनाके दबाव और उसकी स्थूल आवश्यकताओं एवं बाह्य अवस्थाओंके वशीभूत होनेपर भी कभी सर्वथा भुला नहीं दिया। परंतु सामाजिक जीवनको मनुष्यके सच्चे 'स्व'की अभिव्यक्ति और उसकी अंतःस्थ आत्माकी उच्चतम प्रतिमूर्ति बनानेमें जो कठिनाई आती है वह उससे अत्यधिक बड़ी है जो धर्म, चिंतन, कला, साहित्य आदि मानसिक वस्तुओंके द्वारा आत्माको अभिव्यक्त करनेमें आती है। जहां इन विषयोंमें भारत अलौकिक शिखरों और विशालताओंपर पहुंचा वहां वह बाह्य जीवनमें कुछ एक अत्यंत आंशिक उपलब्धियों और अति अपूर्ण प्रयोगोंके परे नहीं जा सका; वे उपलब्धियां और प्रयोग हैं——अध्यात्म-भाव पैदा करनेवाला एक सामान्य प्रतीक-समूह, महत्तर अभीप्साका अंतःप्रवाह, सामाजिक जीवनकी एक विशेष प्रकारकी व्यवस्था, आध्यात्मिक भावनाकी सहायक संस्थाओंका निर्माण। राजनीति, समाज और अर्थशास्त्र तो भारतीय प्रणालीमें स्वीकृत चतुर्विध पुरुषार्थ, अर्थात् मानवके लक्ष्य और

कार्यव्यापार, के दो प्रारंभिक एवं स्थूलतर अंगों, अर्थ और काम (सुखभोगकी कामना), के स्वाभाविक क्षेत्र हैं। इनसे अधिक ऊंचा विधान है धर्म और इसे जीवनके इस बाह्य क्षेत्रमें केवल आंशिक रूपमें ही स्थान दिया गया है और राजनीतिमें तो इसे अति न्यूनतम मात्रामें ही लाया गया है, क्योंकि राजनीतिक कार्यको नीतिशास्त्रके अनुसार संचालित करनेका यत्न साधारणतः पाखंडसे अधिक कुछ नहीं होता। आजतक अप्रौढ़-प्राय मानवजातिके अतीत इतिहासमें इस बातकी तो शायद कल्पना या चेष्टा भी नहीं की गयी कि सामाजिक बहिर्जीवन तथा मोक्ष, अर्थात् मुक्त आध्यात्मिक अस्तित्वमें समन्वय या सच्चा मेल साधा जा सकता है, इसके कहीं सफल होनेकी बात तो दूर रही। सुतरां, हम देखते हैं कि भारतकी प्राचीन राज्य-प्रणाली केवल इतनी ही दूर अग्रसर हो पायी थी कि उसके जीवनकी सामाजिक, आर्थिक और यहांतक कि राजनीतिक—यद्यपि इस क्षेत्रमें यह प्रयत्न अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षा अधिक शीघ्र भंग हो गया—विधि-व्यवस्था, प्रणाली और प्रवृत्ति धर्म-के अनुसार नियंत्रित होती थी और इन सबके मूलमें आध्यात्मिक अर्थकी एक क्षीण आभा विद्यमान रहती थी और आध्यात्मिक जीवनको पूर्ण रूपसे चरितार्थ करनेका परम लक्ष्य व्यक्तिके निजी पुरुषार्थपर छोड़ दिया गया था। निःसंदेह इतना-सा प्रयत्न उसने धैर्य और अध्यवसायके साथ किया और इसने उसकी सामाजिक व्यवस्थाको एक विशिष्ट रूप प्रदान किया। संभवतः यह काम भावी भारतका होगा कि वह अपने प्राचीन भगवत्प्रदत्त कार्य-को पूरा करनेवाले अर्थात् जीवन और आत्माके बीच समन्वय साधित करनेवाले एक अधिक पूर्ण लक्ष्य, एक अधिक व्यापक अनुभव, एक अधिक सुनिश्चित ज्ञानको ग्रहण कर और उन-के द्वारा स्वयं महान्-विशाल बनकर गभीरतर आध्यात्मिक सत्यकी, हमारी सत्ताकी अभी-तक अनुपलब्ध आध्यात्मिक शक्यताओंकी अनुभूतिके आधारपर मनुष्य-समाजकी परमार्थ-सत्ता और व्यवहारको प्रतिष्ठित करे और अपनी प्रजाके जीवनमें इस प्रकार नयी जान फूंक दे कि यह मानवजातिमें विद्यमान महत्तर आत्माकी लीला, 'विराट्' अर्थात् विश्व-पुरुषकी सचेतन समष्टिगत आत्मा और शरीर बन जाय।

एक और बात ध्यानमें रखना आवश्यक है, जो भारतके प्राचीन शासन-तंत्र तथा यूरो-पीय जातियोंके शासन-तंत्रमें भेद उत्पन्न करती है और जिसके कारण पश्चिमके मानदंड इस क्षेत्रमें भी उतने ही अव्यवहार्य ठहरते हैं जितने मन तथा आंतरिक संस्कृतिके विषयों-में। मानवसमाजको अपनी संभावनाओंकी पराकाष्ठातक पहुंचनेसे पहले अपनी प्रगतिमें विकासकी तीन अवस्थाओंमेंसे गुजरना पड़ता है। पहली अवस्था वह है जिसमें समष्टि-सत्ताके रूप और व्यवहार वही होते हैं जो उसके जीवनकी शक्तियों और मूल वृत्तियोंकी स्वाभाविक क्रीड़ाके होते हैं। उसकी संपूर्ण प्रगति, उसकी सभी रचनाएं, प्रथाएं, संस्थाएं तब एक प्रकारका स्वाभाविक सुगठित विकास होती हैं और इन्हें अपना प्रेरक तथा निर्मा-यक बल प्रायः उसके अंतःस्थ जीवनके अवचेतन तत्त्वसे ही प्राप्त होता है। ये बिना चाहे

ही समाजके मनोव्यापार, स्वभाव तथा प्राणिक एवं शारीरिक आवश्यकताको प्रकट करती हैं और अडिग बनी रहती हैं, अथवा कुछ तो भीतरी आवेगके और कुछ समष्टिगत मन एवं स्वभावपर क्रिया करनेवाली परिस्थितिके दबावके कारण बदलती हैं। इस अवस्थामें जाति अभीतक बुद्धिके तरीकेसे ज्ञानपूर्वक आत्मसचेतन नहीं होती, अभीतक चिंतनशील सामूहिक सत्ता नहीं होती। यह अपने सम्पूर्ण सामुदायिक जीवनको तर्कशील इच्छा-शक्तिके द्वारा चलानेका यत्न नहीं करती, बल्कि अपने प्राणिक सहज-बोधों या इनके प्रथम मानसिक प्रति-रूपोंके अनुसार जीवन यापन करती है। अधिकांश प्राचीन तथा मध्ययुगीन जातियोंकी भांति भारतीय समाज और राज्यतंत्रके भी प्रारंभिक ढांचे ऐसे ही कालमें विकसित हुए। परंतु बढ़ती हुई सामाजिक आत्मचेतनताके परवर्ती युगमें भी इन्हें त्याग नहीं दिया गया बल्कि इस तरह और भी अधिक सुगठित, विकसित एवं व्यवस्थित किया गया, जिससे ये सदा राज-नीतिज्ञों, विधायकों और सामाजिक एवं राजनीतिक विचारकोंकी रचना न रहकर एक ऐसी दृढ़-स्थिर प्राणवंत व्यवस्था बनें जो भारतीय जातिके मन, सहज-प्रेरणाओं और प्राणिक अंत-र्बोधोंके लिये स्वाभाविक हो।

समाजकी दूसरी अवस्था वह है जिसमें समष्टि-मन बौद्धिक रूपमें अधिकाधिक आत्म-सचेतन होता जाता है, पहले तो समाजके अधिक संस्कृत मनुष्योंमें, फिर अधिक व्यापक रूप-में, पहले स्थूल रूपमें, तदनंतर अधिकाधिक सूक्ष्म रूपमें और उसके जीवनके अंग-प्रत्यंगमें। वह अपने निजी जीवन, सामाजिक विचारों, आवश्यकताओं और संस्थाओंको विकसित बुद्धिके प्रकाशमें और अंतमें आलोचनात्मिका एवं रचनात्मिका बुद्धिकी शक्तिके द्वारा देखना और उनके साथ यथोचित व्यवहार करना सीख जाता है। यह अवस्था महान् संभावनाओंसे परिपूर्ण होती है पर इसके अपने विशिष्ट भयानक संकट भी इसके साथ लगे होते हैं। इसके प्राथमिक लाभ वे हैं जो स्पष्ट एवं बोधयुक्त और अंततः यथार्थ एवं वैज्ञानिक ज्ञानकी वृद्धिके साथ-साथ बराबर ही प्राप्त होते हैं। इसकी चरम अवस्था है यथार्थ एवं सुसज्जित कौशल जो समीक्षक और रचनात्मक वैज्ञानिक बुद्धिका पूर्णतम मात्रामें प्रयोग करनेपर उसके परिणाम और प्रति-फलस्वरूप अधिगत होता है। सामाजिक विकासकी इस अवस्थाका एक और महत्तर फल होता है उच्च एवं उज्ज्वल आदर्शोंका आविर्भाव। ये आदर्श मनुष्यको उसकी प्राणमय सत्ताकी सीमाओं तथा उसकी प्रथम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताओं एवं कामनाओंके ऊपर उठा ले जाने और इनके रूढ़ सांचोंसे बाहर निकालनेकी आशा बंधाते हैं। ये उसे सामाजिक जीवनपर साहसिक परीक्षण करनेके लिये प्रेरित एवं अनुप्राणित करते हैं और वह परीक्षण एक अधिकाधिक आदर्श समाजके चरितार्थ होनेकी संभावनाका क्षेत्र खोल देता है। वैज्ञानिक मनको एक ऐसे सूक्ष्म, सिद्धहस्त और सुसज्जित कौशलके साथ जीवन-पर प्रयुक्त करना जो इसका सामान्य सर्वोच्च परिणाम है, ज्ञानपूर्वक प्रस्तावित सामाजिक एवं राजनीतिक महान् आदर्शोंका यह अनुसरण और वह प्रगति जो इस पुरुषार्थमें विजित

भूमिकी सूचक हैं—ये सब, जिन किन्हीं त्रुटियों और कमियोंके होते हुए भी, यूरोपके राजनीतिक एवं सामाजिक प्रयत्नके अपने विशिष्ट लाभ रहे हैं।

दूसरी ओर, जब बुद्धि अपनेको जीवनकी एकछत्र शासिका समझकर उसके उपादानोंपर क्रिया करनेका दावा करती है तो वह स्वभावतः ही समाजके इस सच्चे स्वरूपको अपनी दृष्टिसे कोसों दूर रखती है कि यह एक सजीव विकसनशील सत्ता है। वह इसके साथ ऐसे व्यवहार करती है मानो यह एक मशीन हो जो इच्छानुसार चलायी जा सकती हो और बुद्धि-के मनमाने आदेशोंके अनुसार कितने सारे निष्प्राण काठ या लोहेकी तरह गढ़ी या ढाली जा सकती हो। विकृतिजनक, संघर्षशील, रचनाशील, कार्यदक्ष, यांत्रीकारक बुद्धि एक जाति-की जीवनी-शक्तिके सरल तत्वोंको खो बैठती है, वह इसे इसके जीवनके गुप्त मूलोंसे विच्छिन्न कर देती है। इसका परिणाम होता है शासनतंत्र और सभा-संस्थापर, विधि-व्यवस्था और राज्यप्रबंधपर अति निर्भरता और एक जीती-जागती जातिके बजाय यांत्रिक राज्यको विक-सित करनेकी घातक प्रवृत्ति। सामाजिक जीवनका यंत्र ही स्वयं जीवनका स्थान लेनेकी चेष्टा करता है और एक प्रबल पर यांत्रिक एवं कृत्रिम संगठनका जन्म होता है; परंतु, इस बाह्य लाभके मूल्य-स्वरूप हम एक स्वतंत्र एवं जीवंत जातिके शरीरके अंदर सुगठित रूपमें आत्मविकास करनेवाली समष्टि-आत्माके जीवनका सत्य गंवा देते हैं। वैज्ञानिक बुद्धि अपनी यांत्रिक पद्धतिके बोझके नीचे प्राणिक एवं आध्यात्मिक अंतर्ज्ञानके कार्यको कुचल डालती है। यह उसकी एक भूल है। यही यूरोपकी दुर्बलता है और इसने उसकी अभीप्साको धोखा दिया है और उसे उसके उच्चतर आदर्शोंको सच्चे रूपमें उपलब्ध करनेसे रोका है।

अतएव मानव-व्यष्टिकी तरह ही समाजरूपी समष्टिको अपने विकासकी एक तीसरी अवस्थामें पहुंचना होता है और वहां पहुंचनेपर ही मनुष्यके चिंतनद्वारा प्रारंभमें ही अधिकृत एवं पोषित आदर्श अपना सच्चा उद्गम एवं स्वरूप तथा अपनी चरितार्थताके सच्चे साधन एवं अवस्थाएं उपलब्ध कर सकते हैं, अथवा तभी पूर्ण समाजका आदर्श स्वप्नसे अधिक कुछ हो सकता है। आज तो वह एक चमकीले मेघपर भासमान स्वप्न-दृश्यकी भांति है, जिसके पीछे मनुष्य लगातार चक्कर काटता रहता है और जो लगातार उसकी आशाको दुराशामें परिणत करता रहता है तथा उसकी पकड़से बचता रहता है। यह स्वप्न तभी पूरा होगा जब समाजके अंदर मनुष्य अधिक गहरा जीवन बिताने लगेगा और अपने सामूहिक जीवनका नियंत्रण तो न मुख्यतः अपने प्राण-पुरुषसे उद्भूत आवश्यकताओं, सहज-प्रेरणाओं एवं स्फुरणा-ओंके अनुसार करेगा और न गौणतः तर्कशील मनकी रचनाओंके द्वारा, बल्कि प्रथमतः, प्रधानतः और सदा-सर्वदा अपनी उपलब्ध महत्तर अंतरात्मा और आत्माकी एकता, सहानुभूति, सहज स्वतंत्रता और सुनम्य एवं सजीव व्यवस्थाकी शक्तिके द्वारा करेगा। उस आत्मामें ही व्यक्ति और समाजकी स्वतंत्रता, पूर्णता एवं एकताका अपना-अपना विधान निहित है। यह एक ऐसा नियम है जिसे अपना प्रयत्न आरंभ करनेके लिये भी अभीतक कहीं भी उपयुक्त

अवस्थाएं प्राप्त नहीं हुई हैं। क्योंकि, यह चरितार्थ तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक जीवनके विधानको उपलब्ध करने और उसका अनुसरण करनेका मानवीय प्रयत्न केवल कुछ एक व्यक्तियोंके ही असाधारण लक्ष्यके रूपमें सीमित न रहे अथवा अधिक व्यापक अभीप्सा-का विषय बननेपर कहीं यह एक प्रचलित धर्मका बाना पहनकर पतित ही न हो जाय, बल्कि जब मनुष्य इसे अपनी सत्ताकी अटल मांग मानकर तथा इसकी सच्ची और सही उपलब्धिको जातिके विकासके अगले कदमके लिये आवश्यक समझता हुआ इसका अनुसरण करे।

छोटे-छोटे प्राचीन भारतीय समाज अन्य समाजोंकी भांति प्रबल और सहजस्फूर्त जीवन-शक्तिकी प्रथम अवस्थामेंसे गुजरकर ही विकसित हुए, उन्होंने इसके आदर्श और इसकी कार्यप्रणालीको स्वतंत्र और स्वाभाविक रूपसे ही उपलब्ध किया और जीवन तथा सामाजिक और राजनीतिक संस्थाके रूपको समष्टि-सत्ताके प्राणिक सहज-ज्ञान और स्वभावके द्वारा ही गठित किया। जैसे-जैसे वे एक-दूसरेके साथ घुलमिलकर एक बढ़ती हुई सांस्कृतिक और राजनीतिक एकतामें आबद्ध होते गये और उत्तरोत्तर विशाल राजनीतिक संघ बनाते गये, वैसे-वैसे उन्होंने एक समान भावना, समान आधार एवं सर्वसामान्य रचनाका विकास किया जो गौण रूप-रेखाओंमें विविधताके लिये अत्यधिक स्वाधीनता प्रदान करती थी। वहां कठोर एकरूपताकी कोई आवश्यकता नहीं थी; समान भावना और जीवन-प्रेरणा ही इस नमन-शीलतापर सर्वसामान्य एकताका नियम लागू करनेके लिये पर्याप्त थीं। और जब महान् राज्यों और साम्राज्योंका विकास हुआ तब भी अधिक छोटे राज्यों, प्रजातंत्रों और गणों-रूपी विशिष्ट संस्थाओंको नष्ट नहीं कर दिया गया या अलग नहीं फेंक दिया गया बल्कि उन्हें सामाजिक-राजनीतिक रचनाके नये सांचेमें यथासंभव अधिकसे अधिक समाविष्ट कर लिया गया। जो कुछ जातिके स्वाभाविक विकासमें जीवित नहीं रह सका या जिसकी अब और जरूरत नहीं थी वह अपने-आप झड़कर व्यवहारके क्षेत्रसे अलग हो गया: जो कुछ अपने-आपको नयी परिस्थिति और नये वातावरणके अनुसार बदलकर टिका रह सका उसे जीवित रहने दिया गया: जो कुछ भारतवासियोंकी सत्ताके आंतरात्मिक और प्राणिक विधानके तथा उसके स्वभावके साथ घनिष्ठ संगति रखता था उसने सर्वत्र प्रचलित होकर समाज तथा शासनप्रणालीके स्थायी स्वरूपमें स्थान ग्रहण कर लिया।

विकसित होती हुई बौद्धिक संस्कृतिके युगने जीवनके इस सहज-स्वाभाविक सिद्धांतका सम्मान किया। समाज, अर्थनीति और राजनीतिपर, अर्थात् धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रपर विचार करनेवाले भारतीय मनीषियोंका कार्य यह नहीं था कि वे भाव-प्रधान बुद्धिके द्वारा समाज और राज्यके आदर्शों एवं प्रणालियोंका निर्माण करें, बल्कि समष्टिगत मन और प्राणने सामाजिक जीवनकी जो संस्थाएं और प्रणालियां पहलेसे विकसित कर रखी हैं उन्हें व्याव-हारिक बुद्धिके द्वारा समझें तथा नियमबद्ध करें और उनके मूलतत्त्वोंको नष्ट किये बिना विक-सित करें, स्थिर और सुसंगत बनायें। जिस किसी भी नये तत्त्व या विचारकी आवश्यकता

होती थी उसे एक क्रांतिपूर्ण एवं विध्वंसकारी सिद्धांतके रूपमें नहीं बल्कि एक ऊपरी रचना या संशोधनात्मक तत्त्वके रूपमें बढ़ाया या प्रचलित किया जाता था। इसी ढंगसे सामाजिक विकासकी प्रारंभिक अवस्थाओंसे एक पूर्ण-विकसित राजतंत्रात्मक प्रणालीकी ओर अग्रसर होनेकी व्यवस्था की गयी थी; यह कार्य राजा या सम्राट्के सर्वोच्च नियंत्रणके अधीन, उस समयकी प्रचलित संस्थाओंको एकत्रित करके किया गया। उनके ऊपर राजतंत्रात्मक या साम्राज्यीय प्रणालीकी स्थापना कर देनेसे उनमेंसे बहुतोंका स्वरूप एवं स्थिति तो बदल गयी पर, यथासंभव, उनका अस्तित्व लुप्त नहीं हुआ। परिणामस्वरूप, भारतमें हम बौद्धिकतया आदर्शवादी राजनीतिक प्रगति या क्रांतिपूर्ण परीक्षणका वह तत्त्व नहीं देखते जो प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपका इतना सुस्पष्ट लक्षण रहा है। अतीतकी रचनाओंको भारतीय मन और जीवनका स्वाभाविक प्रकाश, उसके 'धर्म' अर्थात् सत्ताके यथार्थ विधानकी सच्ची अभि-व्यक्ति मानते हुए उनका गहरा सम्मान करना भारतीय मनोवृत्तिका प्रबलतम अंग था और उच्च बौद्धिक संस्कृतिकी महान् सहस्राब्दीमें यह रक्षणात्मक प्रवृत्ति भंग नहीं हुई वरंच और भी अधिक दृढ़ रूपमें सुस्थिर एवं प्रतिष्ठित हो गयी। प्रगतिका एकमात्र संभव या ग्राह्य साधन यही समझा जाता था कि प्रथाओं और संस्थाओंका क्रमशः विकास होने दिया जाय जो सुप्रतिष्ठित व्यवस्थाके सिद्धांतकी, समाज-व्यवस्था और राजनीतिके पूर्व-दृष्टांतकी एवं प्रचलित ढांचे और रचनाकी रक्षा करे। इसके विपरीत, भारतीय शासनप्रणालीने जनताके जीवनकी स्वाभाविक व्यवस्थाके स्थानपर हानिकारक यांत्रिक व्यवस्थाकी स्थापना कभी नहीं की जो यूरोपीय सभ्यताकी व्याधि रही है और जिसका चरम परिणाम आज हमें नौकरशाही एवं व्यावसायिक राज्य-पद्धतिके कृत्रिम दैत्याकार संगठनके रूपमें दिखायी पड़ रहा है। आदर्शोंकी परिकल्पना करनेवाली बुद्धिके लाभ उसमें नहीं थे तो सभी चीजोंको यांत्रिक रूप देनेवाली तर्कबुद्धिकी हानियां भी नहीं थीं।

भारतीय मन जब तर्कबुद्धिके विकासमें अत्यधिक व्यस्त था तब भी वह अपने स्वभावमें सदैव गहरे रूपसे अंतःस्फुरणात्मक बना रहा, और इसलिये उसका राजनीतिक एवं सामा-जिक चिंतन सदैव प्राणकी स्फुरणाओं और आत्माकी स्फुरणाओंको संयुक्त करनेके लिये एक प्रकारका प्रयत्न ही रहा जिसमें बुद्धिके प्रकाशने एक मध्यवर्ती, व्यवस्थापक और नियामक तत्त्वका काम किया। उसने जीवनके प्रचलित और सुदृढ़ यथार्थ तथ्योंकी मजबूत नींवपर अपनेको प्रतिष्ठित करने और अपने आदर्शवादके लिये बुद्धिपर नहीं वरन् आत्माकी ज्ञान-दीप्तियों, अंतःप्रेरणाओं और उच्चतर अनुभवोंपर निर्भर करनेका यत्न किया है, और उसने बुद्धिका प्रयोग एक समीक्षक शक्तिके रूपमें ही किया है जो उसके चिंतनके क्रमोंकी परीक्षा करती और उन्हें निश्चित करती है तथा प्राण और आत्माकी जो सदा ही सच्चे और प्रबल निर्माता होते हैं, सहायता करती है पर उनका स्थान नहीं ले लेती। भारतका आध्यात्मिक मन जीवनको आत्माकी एक अभिव्यक्ति मानता था : उसके लिये समाज सृष्टिकर्ता ब्रह्माका शरीर था, जाति समष्टि-ब्रह्मका प्राण-शरीर थी, वह समष्टिगत नारायण थी, जैसे कि व्यक्ति था

व्यष्टि-ब्रह्म, पृथक् जीव, व्यक्तिगत नारायण; राजा भगवान्का जीवंत प्रतिनिधि होता था तथा समाजकी अन्य श्रेणियां समष्टिगत आत्माकी स्वाभाविक शक्तियां, **प्रकृतयः**, कहलाती थीं। अतएव, यही नहीं कि संमत रूढ़ियों, संस्थाओं तथा प्रथाओंका और सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनका संविधान और उसके सब अंगोंकी सत्ताको अलंघ्य माना जाता था बल्कि इनका स्वरूप भी एक प्रकारकी विशेष पवित्रतासे युक्त समझा जाता था।

प्राचीन भारतीय विचारके अनुसार, मानवजीवन तथा जगत्की यथायथ व्यवस्था तभी सुरक्षित रहती है जब कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वधर्मका, अर्थात् अपनी प्रकृति तथा अपनी जातिकी प्रकृतिके सच्चे विधान और आदर्शका सच्चाईके साथ अनुसरण करता है तथा समाज अर्थात् सुघटित समष्टिगत जीवन भी अपने स्वधर्मका उसी प्रकार पालन करता है। कुल, वंश, वर्ण, वर्ग, सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक या अन्यविध समुदाय, राष्ट्र, जाति—ये सब ही सुघटित सामूहिक सत्ताएं हैं जो अपने-अपने धर्मका विकास करती हैं और उसका अनुसरण करना उनकी सुरक्षा, उनके स्वास्थ्यपूर्ण स्थायित्व और समुचित कार्यकी शर्त है। पद और कर्तव्यका तथा दूसरोंके साथ विशिष्ट संबंधका भी अपना धर्म होता है, इसी प्रकार एक धर्म वह भी होता है जो अवस्था, परिस्थिति एवं युगके द्वारा मनुष्यपर लादा जाता है, उसे **युगधर्म**, अर्थात् सार्वभौम ईश्वरवादी या नैतिक धर्म कहते हैं। ये सब धर्म स्वभावज धर्मपर, अर्थात् स्वभावानुसारी कर्मपर, क्रिया करते हुए विधानके बहिरंगकी सृष्टि करते हैं। प्राचीन सिद्धांतके अनुसार यह माना जाता है कि मनुष्यकी, व्यक्ति और समाजकी, सर्वथा यथार्थ और निर्दोष अवस्थामें,—उस अवस्थामें जिसे पौराणिक स्वर्णयुग या सत्ययुगके द्वारा सूचित किया गया है,—किसी भी प्रकारके राजनीतिक शासन या 'राज्य' (State) की अथवा समाजकी किसी कृत्रिम रचनाकी कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तब सभी लोग अपनी आलोकित आत्मा और ईश्वराधिष्ठित सत्ताके सत्यके अनुसार और अतएव सहज-स्वाभाविक रूपसे अपने आभ्यंतरिक दैवी धर्मके अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक जीवन यापन करते हैं। इसलिये अपनी सत्ताके यथायथ और स्वतंत्र विधानके अनुसार जीवन यापन करनेवाला आत्म-व्यवस्थित व्यक्ति एवं आत्म-व्यवस्थित समाज ही आदर्श है। परंतु मानवजातिकी वर्तमान अवस्थामें, सच्चे वैयक्तिक और सच्चे सामाजिक धर्मके विकारों और व्यतिक्रमोंके वशीभूत उसकी अज्ञ और विपथगामी प्रकृतिकी अवस्थामें, समाजके स्वाभाविक जीवनके ऊपर एक राज्यकी, प्रभुत्वपूर्ण सत्ताकी, एक राजा या शासक-संस्थाकी स्थापना करना आवश्यक है। परंतु उस राज्य आदिका कार्य यह नहीं कि वह समाजके जीवनमें, जिसे अधिकांशमें उसके स्वाभाविक नियम और रीति-रिवाज एवं सहज विकासके अनुसार कार्य करने देना होगा, अनुचित रूपसे हस्तक्षेप करे, बल्कि यह है कि इसकी यथार्थ प्रक्रियाका निरीक्षण करे और उसमें सहायता पहुंचाये तथा यह देखे कि धर्मका पालन किया जाय और वह शक्तिशाली भी बना रहे। निषेधात्मक रूपमें, राज्य आदिका कार्य यह है कि वह धर्म-विरुद्ध आचरणोंके लिये

दंड दे और उनका दमन करे, और जहांतक हो सके, उनका प्रतिकार भी करे। धर्मके विकृत होनेकी और भी आगेकी अवस्थाका लक्षण यह है कि उसमें एक विधान-निर्माताके आविर्भावकी तथा संपूर्ण जीवनको, वैधिक रूपसे, बाह्य या लिखित विधि-विधान और नियम-के द्वारा शासित करनेकी आवश्यकता पड़ती है; परंतु, राज्य-प्रबंधकी छोटी-मोटी बाहरी बातोंको छोड़कर, इस विधानका निर्धारण करनेका कार्य राजनीतिक अधिकारीका नहीं, सामाजिक धर्मके स्रष्टा ऋषिका या ग्रंथोंकी रक्षा एवं व्याख्या करनेवाले ब्राह्मणका होता था। राजनीतिक अधिकारीका काम तो विधानके अनुसार राज्य-प्रबंध करना होता था। स्वयं विधान भी, वह लिखित हो या अलिखित, कोई ऐसी वस्तु नहीं होता था जिसका राजनीतिक एवं विधायक सत्ताको नये सिरेसे सृजन या निर्माण करना पड़ता हो, बल्कि वह एक ऐसी वस्तु होता था जो पहलेसे ही अस्तित्व रखती थी, और वह जैसा भी होता था या पहलेसे विद्यमान विधान और सिद्धांतमेंसे वह सामाजिक जीवन और चेतनाके अंदर जिस रूपमें स्व-भावतः ही विकसित होता था उस रूपमें उसकी व्याख्या एवं निरूपणमात्र करना होता था। इस बढ़ती हुई कृत्रिमता और रूढ़ि-परंपरामेंसे उत्पन्न होती है समाजकी अंतिम और निकृष्ट-तम अवस्था, अर्थात् अराजकता तथा संघर्षकी और धर्मके विनाशकी अवस्था,—कलियुग,—जिस-के बाद आती है प्रलय और संघर्षकी लोहित-धूसर संध्या और फिर होता है मनुष्यमें आत्मा-का नवोदय और नव-प्रकाश।

अतएव राजनीतिक अधिकारी, राजा और परिषद्का तथा राष्ट्रतंत्रके अन्य शासक सदस्योंका मुख्य कार्य समाजके जीवनके यथार्थ विधानकी रक्षा करनेके लिये सेवा और सहा-यता करना था : राजा धर्मका संरक्षक और परिचालक होता था। स्वयं समाजके कर्तव्यका एक अंग यह भी था कि वह मनुष्यकी प्राणिक, आर्थिक तथा अन्य आवश्यकताओंको और सुख तथा भोगके लिये उसकी चार्वाकपंथीय मांगको समुचित रूपसे पूरा करे, परंतु करे उन-की पूर्तिके यथायथ नियम और मान-प्रमाणके अनुसार तथा नैतिक, सामाजिक और ईश्वर-वादी धर्मके अधीन और नीचे रहकर। समाज और राष्ट्र-रूपी समष्टिके सभी सदस्यों और वर्गोंका अपना-अपना धर्म था जो उनकी प्रकृति, उनके पद, तथा संपूर्ण समष्टिके साथ उनके संबंधके अनुसार उनके लिये निर्धारित था और उसके स्वतंत्र तथा यथोचित प्रयोगमें उनका रक्षण और प्रतिपालन करना होता था, अपनी सीमाओंके भीतर अपने स्वाभाविक और स्वयं-निर्धारित कर्तव्य-संपादनके लिये उन्हें स्वतंत्रता देते हुए भी अपने यथोचित कर्तव्य और अपनी वास्तविक सीमाओंका किसी प्रकारका उल्लंघन एवं अतिक्रमण करने या उनसे विचलित होनेसे उन्हें रोकना आवश्यक होता था। सर्वोच्च राजनीतिक अधिकारीका, किंवा अपनी परिषद्के समेत सम्राट्का कार्य यही था और जनसभाएं इस कार्यमें उसकी सहायता करती थीं। राज्याधिकारीका काम यह नहीं था कि वह किसी वर्ण, धार्मिक संप्रदाय, शिल्पि-संघ, ग्राम एवं नगर-विभागके स्वतंत्र कर्तव्य-संपादनमें अथवा किसी प्रदेश या प्रांतके सुघटित रीति-

रिवाजके स्वतंत्रतापूर्वक क्रियान्वित होनेमें हस्तक्षेप करे या अनधिकार दखल दे अथवा उनके अधिकारोंको रद्द कर दे, क्योंकि ये सामाजिक धर्मके न्यायोचित प्रयोगके लिये आवश्यक होनेके कारण उनके स्वाभाविक अधिकार थे। उसे बस यही करनेके लिये कहा जाता था कि वह सबमें सामंजस्य स्थापित करे, एक व्यापक और सर्वोच्च नियंत्रणका प्रयोग करे, समाजके जीवनको बाहरी आक्रमण या भीतरी फूटसे बचाये, अपराध और अव्यवस्थाका दमन करे, आर्थिक और औद्योगिक उत्थानमें सहायता पहुंचाये, उसे समुन्नत करे और उसकी अधिक व्यापक दिशाओंमें उसे व्यवस्थित करे, सुविधाएं प्रदान करनेकी ओर ध्यान दे, और जो शक्तियां दूसरोंके क्षेत्रसे परेकी हैं उनका इन कार्योंके लिये प्रयोग करे।

इस प्रकार वस्तुतः भारतीय शासनप्रणाली एक अत्यंत जटिल सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्णयकी प्रणाली थी। समाजकी प्रत्येक वर्ग-रूपी इकाईका अपना स्वाभाविक अस्तित्व होता था और वह अपने निज जीवन और कार्यकी व्यवस्था करती थी, अपने क्षेत्र और अपनी सीमाओंके स्वाभाविक विभाजनके कारण वह शेष इकाइयोंसे पृथक् होती थी, किंतु अच्छी तरह जाने-समझे हुए संबंधोंके द्वारा संपूर्ण समष्टिके साथ संबद्ध रहती थी, सामुदायिक सत्ताके अधिकारों और कर्तव्योंमें प्रत्येक इकाई अन्योंकी सहभागिनी होती थी, वह अपने निजी नियमों और विधानोंको कार्यान्वित करती तथा अपनी निजी सीमाओंके भीतर शासन-प्रबंधका कार्य करती थी, पारस्परिक या सर्वसामान्य हितके विषयोंके विवेचन तथा नियमनके कार्यमें अन्योंके साथ हाथ बंटाती थी और राज्य या साम्राज्यकी महासभाओंमें किसी-न-किसी रूपमें तथा अपने महत्त्वकी मात्राके अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त करती थी। राज्य, राजा या सर्वोच्च राजनीतिक अधिकारी संगति-स्थापन और सामान्य नियंत्रण एवं कार्यदक्षताका माध्यम होता था और वह एक सर्वोच्च अधिकारका प्रयोग करता था जो निरपेक्ष और निरंकुश नहीं होता था; क्योंकि अपने सभी अधिकारों और शक्तियोंमें वह विधान और प्रजाकी इच्छाके द्वारा सीमाबद्ध रहता था और राज्यके भीतरके अपने सभी कार्योंमें सामाजिक और राष्ट्रीय संस्थाके अन्य सदस्योंका सहयोगी मात्र होता था।

भारतीय शासनप्रणालीका सिद्धांत, मूलसूत्र एवं वास्तविक संविधान यही था, वह सामुदायिक स्वाधीनता और आत्म-निर्धारणका एक जटिल मिश्रण थी जिसके ऊपर एक सर्वोच्च संगति-स्थापक सत्ता, एक शासक व्यक्ति एवं संस्था होती थी जो कार्यक्षम शक्तियों, पद और प्रतिष्ठासे सुसंपन्न होते हुए भी अपने विशिष्ट अधिकारों और कर्तव्योंकी सीमासे बंधी रहती थी, शेष सबको नियंत्रित करती और साथ ही उनके द्वारा नियंत्रित रहती थी, सभी विभागोंमें उन्हें अपने ऐसे सक्रिय सहयोगियोंके रूपमें स्थान देती थी जो सामुदायिक सत्ताके नियमन और प्रशासनमें उसका हाथ बंटाते थे, और राजा, जनता तथा उसके अंगभूत सभी समाज, सबके सब समान रूपसे, धर्मकी रक्षा करनेके लिये बाध्य होते थे तथा उसके जूएसे नियंत्रित रहते थे। इसके अतिरिक्त, सामुदायिक जीवनके आर्थिक और राजनीतिक पक्ष धर्मका ही

केवल एक भाग होते थे और सो भी एक एसा भाग जो शेष सबसे, अर्थात् समाजके धार्मिक, नैतिक एवं उच्चतर सांस्कृतिक लक्ष्यसे किसी भी प्रकार पृथक् नहीं बल्कि उनके साथ अवि-च्छेद्य रूपमें जुड़ा हुआ होता था। नैतिक विधान राजनीतिक और धार्मिक विधानपर अपना रंग चढ़ाता था और राजा तथा उसके मंत्रियों और परिषद् तथा व्यवस्थापिका सभाओंके, व्यक्तिके और समाजके अंगभूत वर्गोंके प्रत्येक कार्यपर लागू होता था; मतदानमें तथा मंत्री, अधिकारी और परिषद्की योग्यताओंमें नैतिक और सांस्कृतिक विचारणाएं महत्त्व रखती थीं; आर्य जातिके राजकार्यमें जो लोग भी पदाधिकारी होते थे उन सबसे उच्च चरित्र और प्रशिक्षाकी आशा की जाती थी। धार्मिक भाव, और धर्मका स्मरण करानेवाले व्यक्ति ही राजा और प्रजाके संपूर्ण जीवनका अधिष्ठातृत्व करते थे और वही इसकी पृष्ठभूमिमें भी काम करते थे। यद्यपि समाजकी जीवन-प्रणालीके अंगोंका आवश्यक विशेष ज्ञान आयत्त किया जाता था तथापि समाजके जीवनको अपने-आपमें लक्ष्य नहीं माना जाता था, वरन् इससे कहीं अधिक उसे उसके सभी भागोंमें तथा समूचे रूपमें मानव मन और अंतरात्माकी शिक्षाके लिये तथा प्राकृत जीवनमेंसे आध्यात्मिक जीवनकी ओर इसके विकसित होनेके लिये एक महान् आधार और अभ्यास-क्षेत्र समझा जाता था।

सत्रहवां अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

जहांतक हम उपलभ्य अभिलेखोंसे अनुमान लगा सकते हैं, भारतीय सभ्यताका सामाजिक-राजनीतिक विकास चार ऐतिहासिक अवस्थाओंमेंसे गुजरा, पहली थी आर्योंके सरल समाजकी अवस्था, उसके बाद आया संक्रमणका लंबा काल जिसमें जातीय जीवन राजनीतिक संगठन और संश्लेषणके क्षेत्रमें अनेकविध परीक्षणात्मक रचनाओंमेंसे गुजरता हुआ आगे बढ़ रहा था, तीसरी अवस्थामें राजतंत्रात्मक राज्यने सुनिश्चित रूप ग्रहण किया और जातिके सामुदायिक जीवनके सभी जटिल तत्त्वोंको प्रादेशिक एवं साम्राज्यीय एकताओंके रूपमें सुसमन्वित कर दिया, और अंतमें आया ह्रासका युग जिसमें आंतरिक गत्यवरोध उत्पन्न होनेसे सर्वत्र निश्चेष्टता छा गयी और पश्चिमी एशिया तथा यूरोपसे आयी हुई नयी संस्कृतियां एवं प्रणालियां हमारे देशपर लादी गयीं। पहली तीन अवस्थाओंका विशिष्ट स्वरूप है––सभी रचनाओंमें एक विलक्षण दृढ़ता और स्थिरता तथा जातिके जीवनका स्वस्थ, प्राणवंत और शक्तिशाली विकास जो उसकी जीवन-व्यवस्थाकी इस मूलभूत रक्षणात्मक स्थिरताके कारण धीर और मंथर गतिसे संपादित होता था पर फिर भी अपने संघटनमें अत्यधिक सुनिश्चित था और अपनी रचनामें जीवंत और पूर्ण भी। और ह्रासके समय भी यह दृढ़ता विध्वंसकी प्रक्रियाके विरुद्ध डटकर उसका प्रबल प्रतिरोध करती है। विजातीय बोझसे दबकर रचना ऊपरसे टूट-फूट जाती है पर अपने आधारको दीर्घ कालतक सुरक्षित रखती है, जहां कहीं वह आक्रमणके विरुद्ध अपने-आपको कायम रख सकती है, वहां वह अपनी विशिष्ट प्रणालीको भी अधिकांशमें बचाये रखती है और यहांतक कि मिटते समय भी अपने रूप और मूल-भावके पुनरुज्जीवनके लिये प्रयत्न करनेमें सक्षम होती है। और आज भी यद्यपि वह संपूर्ण राजनीतिक प्रणाली लुप्त हो गयी है और उसके अंतिम बचे-खुचे तत्त्वोंको भी नेस्तनाबूद कर दिया गया है, तथापि जिस विशिष्ट सामाजिक मन एवं स्वभावने उसकी रचना की थी वह समाजकी वर्तमान गतिहीनता, दुर्बलता, विकृति और विघटनके समय भी बचा हुआ है और, एक वार यदि वह

पुनः अपनी इच्छाके अनुसार और अपने ढंगसे कार्य करनेकी स्वतंत्रता प्राप्त कर ले तो वह अब भी, तात्कालिक प्रवृत्तियों और प्रतीतियोंके रहते भी, विकासकी पश्चिमी धाराका अनुसरण न कर अपनी मूल भावनामेंसे नयी रचनाका सृजन करनेकी ओर अग्रसर हो सकता है और वह मूल भावना, संभवतः, उस मांगकी पुकारपर जो आज जातिके उन्नतचेता व्यक्तियोंमें अस्पष्ट रूपसे उठनी शुरू हो रही है, सामुदायिक जीवनकी तीसरी अवस्थाके प्रारंभ और मानवसमाजके आध्यात्मिक आधारकी ओर ले जा सकती है। कुछ भी हो, भारतके सांस्कृतिक मनकी रचनाओंकी चिरस्थायिता एवं उनकी छत्रछायामें पनपे जीवनकी महानता, निश्चय ही, उसकी अक्षमताका नहीं बल्कि अद्भुत राजनीतिक सहज-बुद्धि और क्षमताका चिह्न है।

भारतीय शासनप्रणालीके समस्त निर्माण, विस्तार और पुनर्निर्माणमें रचनाका आधारभूत एकमात्र स्थायी सिद्धांत था——सजीव रूपसे आत्म-निर्धारण करनेवाले सामुदायिक जीवनका सिद्धांत; पर वह सामुदायिक जीवन केवल समष्टि-रूपमें तथा मतदानकी मशीनरीके द्वारा और राष्ट्रके किसी भागके राजनीतिक मनका ही प्रतिनिधित्व करनेवाली एक बाहरी प्रतिनिधि-संस्थाके द्वारा आत्म-निर्धारण नहीं करता था,——आधुनिक राष्ट्र-तंत्र केवल इतनी ही व्यवस्था कर सका है,——बल्कि उसके जीवनकी रग-रगमें तथा उसकी सत्ताके प्रत्येक पृथक्-पृथक् अंगमें आत्म-निर्धारण करता था। एक स्वतंत्र समन्वयात्मक सामुदायिक व्यवस्था ही इसकी विशेषता थी, और स्वाधीनताकी जो अवस्था इस शासनतंत्रका लक्ष्य थी वह उतनी वैयक्तिक नहीं जितनी कि सामाजिक थी। आरंभमें समस्या काफी सरल थी क्योंकि केवल दो प्रकारकी सामाजिक इकाइयों, ग्राम और कुल, वंश या छोटी प्रादेशिक जातिको ही विचारमें लाना होता था। इनमेंसे पहलीका स्वतंत्र सुघटित जीवन स्व-शासक ग्राम-समाजकी प्रणालीपर प्रतिष्ठित किया गया और यह कार्य ऐसी पर्याप्तता और दृढ़ताके साथ किया गया था कि यह प्रणाली कालजनित समस्त क्षय-अपचयका तथा अन्य प्रणालियोंके आक्रमणका प्रतिरोध करती हुई लगभग हमारे समयतक स्थायी बनी रही और केवल हालमें ही ब्रिटिश नौकरशाही व्यवस्थाकी निष्ठुर और निर्जीव मशीनरीके द्वारा कुचलकर मटियामेट कर दी गयी। संपूर्ण जाति अपने ग्रामोंमें अधिकतर कृषिके आधारपर जीवन यापन करती हुई समष्टि रूपसे एक ही धार्मिक, सामाजिक, सैनिक एवं राजनीतिक संघका रूप लिये हुई थी जो अपनी व्यवस्थापिका सभा, **समिति**, में राजाके नेतृत्वमें अपने ऊपर शासन करता था, पर तबतक न तो कर्तव्योंका कोई स्पष्ट विभाजन हुआ था और न श्रेणीवार श्रमका।

यह प्रणाली कृषकों और पशुपालकोंके सरलतम ढंगके जीवनको छोड़कर अन्य सब प्रकारके जीवनके लिये और एक अत्यंत सीमित क्षेत्रमें रहनेवाली छोटीसी जातिके सिवा शेष सब जातियोंके लिये अनुपयुक्त थी। इसी कारण एक अधिक जटिल सामुदायिक प्रणालीका

विकास करने तथा मूल भारतीय सिद्धांतका संशोधित एवं अधिक जटिल रूपमें प्रयोग करनेका प्रश्न अनिवार्य हो उठा। कृषि और गोपालनका जीवन जो आरंभमें आर्य जातिके सभी सदस्यों, **कृष्टयः**, के लिये सर्वसामान्य था, सदा ही एक व्यापक आधार रहा, पर उस आधारके ऊपर इसने व्यापार-व्यवसाय और अनेकविध उद्योग-धंधोंकी एक अधिकाधिक समृद्धिशील रचनाका तथा विशेष प्रकारसे निर्दिष्ट सैनिक, राजनीतिक, धार्मिक और विद्यासंबंधी कार्यों तथा कर्तव्योंकी एक लघुतर रचनाका विकास किया। ग्राम-समाज बराबर ही सामाजिक संगठनकी स्थिर इकाई, उसका मजबूत रेशा या अटूट अणु-परमाणु बना रहा, परंतु बीसियों और सैकड़ों गांवोंका एक समुदाय-जीवन विकसित हो गया, ऐसे प्रत्येक समुदायका अपना-अपना अध्यक्ष होता था तथा प्रत्येकको अपनी शासन-व्यवस्थाकी आवश्यकता पड़ती थी, और जैसे कि कुल विजयके द्वारा या दूसरोंके साथ संयुक्त होकर एक बड़ी जातिके रूपमें विकसित हुआ, ये समुदाय एक राज्य या महासंघाधीन गणतंत्रात्मक राष्ट्रके अंग बन गये। और फिर ये भी बृहत्तर राज्योंके तथा अंतमें एक या अधिक महान् साम्राज्योंके **मंडल** बन गये। सामाजिक और राजनीतिक रचनाके कार्यमें भारतीय प्रतिभाकी परीक्षा अपने सामुदायिक आत्म-निर्धारित स्वतंत्रता और व्यवस्थाके सिद्धांतका परिस्थितियोंकी इस विकसनशील प्रगति एवं नयी व्यवस्थाके अनुकूल सफलतापूर्वक प्रयोग करनेमें निहित थी।

इस आवश्यकताको पूरा करनेके लिये भारतीय मनने चार वर्णोंकी स्थिर सामाजिक-धार्मिक प्रणाली विकसित की। बाहरसे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उस प्रसिद्ध सामाजिक प्रणालीका जो किसी-न-किसी समय अनेकों मानवीय जन-समुदायोंमें स्वाभाविक रूपसे विकसित हुई थी, केवल एक कठोरतर रूप ही है; वे चार वर्ण हैं—पुरोहितवर्ग, सैनिक एवं राजनीतिक अभिजातवर्ग, शिल्पियों और स्वतंत्र कृषकों एवं व्यापारियोंकी श्रेणी और दासों या श्रमिकोंका सर्वहारा वर्ग। परंतु इन दोनों प्रणालियोंमें समानता केवल बाहरी बातोंमें ही है, और भारतमें चतुर्वर्ण-व्यवस्थाकी मूल भावना कुछ और ही थी। उत्तरकालीन वैदिक युगमें और महाकाव्योंके समयमें चातुर्वर्ण्य, एक साथ ही और अविच्छेद्य रूपमें, समाजका एक धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक ढांचा था और उस ढांचेके अंतर्गत प्रत्येक वर्णका अपना स्वाभाविक भाग होता था और मुख्य-मुख्य कार्योंमेंसे किसीमें भी उनमेंसे केवल किसी एकका ही भाग या अधिकार नहीं होता था। यह विशेषता प्राचीन प्रणालीके समझनेके लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, परंतु यह उन मिथ्या धारणाओंके कारण ढक गयी है जो पीछेकी घटनाओंको तथा अधिकतर ह्रासके कालसे ही संबंध रखनेवाली अवस्थाओंको गलत रूपमें समझने या बढ़ा-चढ़ा देनेसे उत्पन्न हो गयी हैं। उदाहरणार्थ, शास्त्रीय शिक्षाका या उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान एवं सुयोगोंका अधिकार एकमात्र ब्राह्मणोंको ही नहीं था। आरंभमें हम आध्यात्मिक नेतृत्वके लिये ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें एक प्रकारकी प्रतिद्वंद्विता पाते हैं और विद्यासंपन्न पुरोहित-वर्गके दावोंके विरुद्ध क्षत्रियोंने चिरकालतक अपना सिक्का जमाये रखा।

तथापि स्मृतिकारों, शिक्षकों, पुरोहितों तथा ऐसे व्यक्तियोंके रूपमें जो अपना सारा समय और सारी शक्ति दर्शन, विद्याध्ययन और शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगा सकते थे, ब्राह्मण अंतमें विजयी हुए और उन्होंने स्थिर तथा महान् प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। ज्ञानसंपन्न पुरोहित-वर्गके लोग धर्मके अधिकारी, धर्मग्रंथोंके और परंपराके संरक्षक, विधान और शास्त्रके व्याख्या-कार, ज्ञानकी सभी शाखाओंके माने हुए शिक्षक तथा अन्य श्रेणियोंके साधारण धार्मिक उप-देष्टा या गुरु बन गये और सबके सब तो नहीं पर फिर भी अधिकतर दार्शनिक, विचारक, साहित्यिक और विद्वान् उन्हींके वर्गसे आये। वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन मुख्यतः उन्हीं-के हाथमें चला गया, यद्यपि तीन उच्चतर वर्णोंके लिये इसका द्वार सदा ही खुला रहा; पर शूद्रोंको सिद्धांततः इसकी मनाही थी। फिर भी, सच पूछो तो, धार्मिक आंदोलनोंकी श्रृंखलाने पीछेके युगमें भी प्राचीन स्वतंत्रताका मूल तत्त्व सुरक्षित रखा, उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान और सुअवसर सबके लिये सुलभ बना दिया और, जैसे आरंभमें हम देखते हैं कि वैदिक और वैदांतिक ऋषि सभी वर्गोंसे उत्पन्न हुए, वैसे ही हम यह भी पाते हैं कि अंततक योगी, संत, आध्यात्मिक मनीषी, संशोधक और पुनरुद्धारक, धार्मिक कवि और गायक, परंपरागत अधि-कार और विद्वत्तासे भिन्न जीवंत आध्यात्मिकता और ज्ञानके मूल-स्रोत समाजके सभी स्तरोंसे, निम्नतम शूद्रों और घृणित एवं दलित चंडालोंतकसे प्राप्त होते रहे।

चारों वर्ण एक स्थिर सामाजिक स्तर-परंपराके रूपमें परिणत हो गये, किंतु, चंडालोंके स्तरको एक ओर छोड़कर, प्रत्येक वर्णके साथ एक प्रकारका आध्यात्मिक जीवन एवं प्रयोजन जुड़ा हुआ था, प्रत्येककी एक विशेष सामाजिक पद-मर्यादा एवं शिक्षा होती थी, सामाजिक और नैतिक सम्मानका एक सिद्धांत होता था तथा सामुदायिक संगठनमें एक स्थान, कर्तव्य और अधिकार भी। और फिर इस व्यवस्थाने श्रमका नियत विभाजन करने तथा सुप्रति-ष्ठित आर्थिक स्थिति प्राप्त करनेमें एक स्वाभाविक साधनके रूपमें कार्य किया। पहले-पहल वंशागत वर्णव्यवस्थाका सिद्धांत ही प्रचलित था,——यद्यपि यहां भी व्यवहारकी अपेक्षा सिद्धांत ही अधिक कठोर था,——किंतु धन-संचय करने और अपने वर्णमें प्रभाव या पद प्राप्त कर समाज, शासन-व्यवस्था और राजनीतिमें एक विशिष्ट व्यक्ति बननेके अधिकार या अवसरसे किसीको भी वंचित नहीं किया जाता था। कारण, अंततः, वह स्तर-परंपरा सामाजिक ही थी राजनीतिक नहीं : नागरिकके सर्वसामान्य राजनीतिक अधिकारोंमें चारों वर्णोंका भाग होता था और व्यवस्थापिका सभाओं तथा प्रशासनिक संगठनोंमें उनका अपना स्थान तथा अपना प्रभाव होता था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कम-से-कम वैधानिक और सैद्धां-तिक रूपमें प्राचीन भारतमें, अन्य प्राचीन जातियोंकी भावनाके विपरीत, स्त्रियोंको नागरिक अधिकारोंसे वंचित नहीं रखा गया था, यद्यपि क्रियात्मक रूपमें, पुरुषके प्रति उनकी सामा-जिक अधीनता तथा उनके घरेलू काम-धंधेके कारण कुछ एक स्त्रियोंको छोड़कर शेष सभीके लिये यह समानता निरर्थक ही रह गयी थी; फिर भी उपलब्ध अभिलेखोंमें इस बातके

उदाहरण पाये जाते हैं कि स्त्रियोंने केवल रानियों, प्रशासिकाओं और यहांतक कि रण-नायिकाओंके रूपमें ही ख्याति नहीं प्राप्त की,——ऐसी घटनाएं तो भारतीय इतिहासमें काफी अधिक पायी जाती हैं,——बल्कि उन्होंने नागरिक संगठनोंमें निर्वाचित प्रतिनिधियोंके रूपमें भी प्रसिद्धि प्राप्त की।

संपूर्ण भारतीय प्रणालीकी स्थापना इस आधारपर की गयी थी कि सार्वजनीन जीवनमें सभी वर्ण घनिष्ठ रूपसे भाग लें, प्रत्येक वर्ण अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हो, ब्राह्मण धर्म और विद्यामें, क्षत्रिय युद्ध, राज्य-कौशल और अंतर्राजकीय राष्ट्र-नीतिक कार्रवाईमें, वैश्य धनोपार्जन तथा उत्पादनात्मक आर्थिक कार्य-व्यापारमें, परंतु नागरिक जीवनमें अपना भाग प्राप्त करने तथा राजनीति, प्रशासन और न्यायमें एक प्रभावपूर्ण स्थान पाने तथा अपना मत-प्रकाश करनेसे किसीको भी यहांतक कि शूद्रको भी वंचित न रखा जाय। परिणामस्वरूप, प्राचीन भारतीय शासनतंत्रने किसी भी युगमें वर्ग-शासनके उन एकांगी रूपोंको जो अन्य देशोंके राजनीतिक इतिहासकी इतने दीर्घकालतक एक प्रबल विशेषता रहे हैं, विकसित नहीं किया या कम-से-कम उन्हें दीर्घकालतक कायम नहीं रखा। कोई पुरोहितोंका राज्य जैसा कि तिब्बतमें है, या कोई भूमिपतियों और सैनिकोंके अभिजात-वर्गका शासन जैसा कि फ्रांस और इंगलैंडमें तथा यूरोपके अन्य देशोंमें सदियोंतक प्रचलित रहा, या कोई व्यापारियोंका अल्पजन-राज्य जैसा कि कार्थेज और वेनिसमें रहा——शासनके ये सभी रूप भारतीय भावनाके लिये विजातीय थे। महाभारतमें जो परंपराएं सुरक्षित हैं उनमें ऐसा संकेत दिखलायी देता है कि व्यापक युद्ध और संघर्ष एवं अस्थिर विस्तारके समय, जब कि कुल और कबीले राष्ट्रों और राज्योंके रूपमें विकसित हो रहे थे तथा नेतृत्व एवं सर्वोपरि प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये अभी भी एक दूसरेके साथ संघर्ष कर रहे थे, महान् क्षत्रिय कुलोंने एक विशेष प्रकारका राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था और ऐसा प्रभुत्व मध्यकालीन राजपूतानामें कुल-राष्ट्र (clan nation) की अवस्थाकी ओर लौटनेके समय पुनः एक स्थूलतर रूपमें प्रकट हुआ : परंतु प्राचीन भारतमें यह अवस्था अस्थायी होती थी और क्षत्रिय वर्णका प्रभुत्व अन्य वर्णोंके लोगोंके राजनीतिक एवं नागरिक प्रभावका उच्छेद नहीं कर देता था, न वह समाजकी विभिन्न इकाइयोंके स्वतंत्र जीवनमें हस्तक्षेप करता या उसपर उत्पीड़क नियंत्रणका प्रयोग ही करता था। बीचके युगोंके जनतंत्रात्मक गणराज्य बहुत संभवतः ऐसे शासनतंत्र थे जिन्होंने इस प्राचीन सिद्धांतकी पूर्ण रूपमें रक्षा करनेका यत्न किया कि व्यवस्थापिका सभाओंमें संपूर्ण जनता समष्टि रूपसे सक्रिय भाग ले, वे गणराज्य यूनानी ढंगके जनतंत्र नहीं थे; अल्पजन-शासित गणराज्य कुल-शासन थे अथवा उनका शासन समाजके प्रतिष्ठित वर्गोंसे गठित अधिक सीमित अनुषदों (Senates) के द्वारा होता था और यह प्रणाली आगे चलकर ऐसी परि-षदों या व्यवस्थापिका सभाओंके रूपमें विकसित हो गयी जिनमें परवर्ती राजकीय परिषदों और पौर संस्थाओंकी भांति चारों वर्णोंको प्रतिनिधित्व प्राप्त था। कुछ भी हो, अंततः

जिस शासन-व्यवस्थाका विकास हुआ वह एक ऐसी मिश्रित राज्यप्रणाली थी जिसमें किसी भी वर्णका अनुचित प्रभुत्व नहीं था। अतएव भारतमें हम न तो समाजके कुलीन और साधारण जनोंके बीच, अभिजात-तंत्र और प्रजातंत्र-संबंधी विचारोंके बीच वह संघर्ष पाते हैं जिसके परिणामस्वरूप निरंकुश राजतंत्रात्मक शासनकी स्थापना हुई और जो यूनान और रोमके क्षोभमय इतिहासकी एक विशेषता है, और न हम वहां वर्ग-संघर्षसे एकके बाद एक विकसित होती हुई शासनप्रणालियोंका वह चक्र ही देखते हैं जो हमें बादके यूरोपमें दृष्टिगोचर होता है,—वहां हम पहले तो अभिजात-वर्गको शासन करते देखते हैं, उसके बाद धनिक एवं व्यावसायिक वर्ग आक्रमण या विप्लवके द्वारा उसे पदच्युत करके सत्ताको अपने हाथमें ले लेते हैं, फिर आता है मध्यवर्गका शासन जो समाजको उद्योगप्रधान बना देता है तथा सर्वसाधारण या जनताके नामपर उसका शासन और शोषण करता है और, अंतमें, हम देखते हैं दरिद्र श्रमजीवि-वर्गके शासनकी ओर वर्तमान प्रवृत्ति। इसके विपरीत, भारतीय मन एवं स्वभाव जो पश्चिमी जातियोंके मन एवं स्वभावकी अपेक्षा कम एकांगी रूपमें बौद्धिक एवं प्राणिक है तथा अधिक अंतर्ज्ञानात्मक रूपमें समन्वयकारी और नमनशील है, निश्चय ही समाज और राजनीतिकी किसी आदर्श व्यवस्थापर न पहुंचकर भी कम-से-कम सभी स्वाभाविक शक्तियों और वर्णोंके एक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं स्थिर समन्वयपर अवश्य पहुंचा—वह समन्वय कोई ऐसा संतुलन नहीं था जो अस्थिर एवं संकटजनक हो, न वह कोई समझौता या समतोलता ही था। साथ ही, भारतीय मन एवं स्वभाव एक ऐसे सुघटित एवं सजीव सामंजस्यपर भी पहुंचा जो समाज-रूपी देहके सभी अंगोंके स्वतंत्र कार्य-व्यापारका आदर करता था। अतएव उसने सभी मानवीय प्रणालियोंको आक्रांत करनेवाले ह्रासमे न सही पर कम-से-कम हर प्रकारके आभ्यंतरिक उपद्रव या अव्यवस्थासे समाजकी रक्षा की।

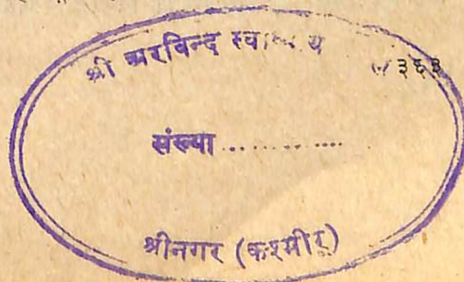
राजनीतिक भवनका शिखर तीन शासक संस्थाओंद्वारा अधिकृत था, मंत्रि-परिषद् समेत राजा, राजधानीकी व्यवस्थापिका सभा और राज्यकी महासंसद्। परिषद्के सदस्य और मंत्री सभी वर्णोंसे लिये जाते थे। परिषद्में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रतिनिधि नियत संख्यामें सम्मिलित किये जाते थे। निःसंदेह संख्याकी दृष्टिसे उसमें वैश्योंका भारी बहुमत होता था, किंतु यह एक न्यायोचित अनुपात होता था क्योंकि यह संपूर्ण जनसमाजमें उनकी संख्याकी अधिकताके अनुरूप ही होता था : कारण, आर्योंके प्राचीन समाजमें वैश्य वर्णके अंदर केवल सौदागर और छोटे व्यापारी ही नहीं बल्कि कारीगर, शिल्पी तथा कृषक भी आ जाते थे और अतएव वैश्य वर्ण जन-साधारण, **विशः**, का बहुत बड़ा भाग होता था, और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्र, दो उच्चतर वर्णोंके पद एवं प्रभावकी चाहे जितनी महानताके होते हुए भी, समाजमें बादमें चलकर ही विकसित हुए और संख्यामें वे अपेक्षाकृत बहुत ही कम थे। सांस्कृतिक ह्रासके युगमें बौद्ध क्रांतिके द्वारा उत्पन्न अव्यवस्था तथा ब्राह्मणोंके द्वारा समाजके पुनः-संघटनके बाद ही कृषकों, शिल्पियों और छोटे व्यापारियोंका

बृहत् समुदाय भारतके अधिक बड़े भागमें शूद्रोंकी अवस्थामें जा गिरा, समाजके शिखर-पर रह गया छोटासा ब्राह्मण-समुदाय और बीचमें जहां-तहां अल्प संख्यामें क्षत्रिय और वैश्य छितरे दिखायी देने लगे। इस प्रकार संपूर्ण समाजका प्रतिनिधित्व करनेवाली परिषद् सर्वोच्च कार्यसंचालक और प्रशासनिक संस्था थी और सामाजिक हितोंके संपूर्ण क्षेत्रमें, शासन, अर्थव्यवस्था और नीतिके सभी अधिक महत्त्वपूर्ण विषयोंमें राजाकी समस्त कार्रवाई और समस्त आज्ञप्तियोंके लिये परिषद्की सहमति एवं सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। राजा, परिषद् और मंत्रिगण ही राज्य-प्रबंध करनेवाली बोर्डोंकी प्रणालीकी सहायतासे राज्य-कार्य-के सभी विविध विभागोंकी देखरेख और नियंत्रण करते थे। निःसंदेह, समयके साथ-साथ राजाकी शक्ति बढ़ती चली गयी और बहुधा ही वह अपनी स्वतंत्र इच्छा और प्रेरणाके अनुसार कार्य करनेके लिये प्रलोभित होता था; किंतु फिर भी जबतक यह प्रणाली तेजस्वी बनी रही तबतक वह निरापद रूपमें मंत्रियों और परिषद्की सम्मति एवं इच्छाकी उपेक्षा या अवज्ञा नहीं कर सकता था। ऐसा प्रतीत होता है कि महान् सम्राट् अशोक जैसा शक्ति-शाली और दृढ़संकल्प राजा भी अपनी परिषद्के साथ संघर्ष होनेपर अंततः पराजित हो गया था और कार्यतः उसे अपनी सत्ता छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ा था। परिषद्के सचिव दुराग्रही या अयोग्य राजाको पदच्युत करके उसके स्थानपर उसके कुलके अन्य व्यक्तिको राजा बनाने या उसका स्थान किसी नये राजवंशको देनेके लिये कदम उठा सकते थे और प्रायः ऐसा करते भी थे और उन दिनों कितने ही ऐतिहासिक परिवर्तन इसी ढंगसे संपन्न हुए, उदा-हरणार्थ, मौर्यवंशियोंके स्थानपर सुंग-वंशियोंको राजगद्दीपर प्रतिष्ठित करनेकी क्रांति हुई और फिर कण्व-वंशके सम्राटोंके शासनका सूत्रपात हुआ। संविधानीय सिद्धांत और साधा-रण व्यवहारके रूपमें राजाका समस्त कार्य वास्तवमें मंत्रियोंकी सहायतासे किया गया स-परिषद् राजाका कार्य होता था और उसका समस्त व्यक्तिगत कार्य केवल तभी वैध होता था जब यह उनकी सहमतिके अधीन रहते हुए किया जाता था तथा यह वहींतक वैध होता था जहांतक यह धर्मके द्वारा उसे सौंपे गये कर्तव्योंका सच्चा और यथोचित संपादन होता था। और, क्योंकि परिषद् मानो एक प्रकारका सारभूत शक्ति-संगठनका कार्य-केंद्र थी जो चार वर्णों, अर्थात् समाज-रूपी देहके मुख्य अंगोंको एक प्रबंध-योग्य सीमामें अपने अंदर समाविष्ट करता था और उन्हें केंद्रबद्ध करके अपने संविधानमें प्रतिनिधित्व प्रदान करता था, अतएव राजा भी इस शक्तिका केवल एक सक्रिय अध्यक्ष ही हो सकता था; वह, एक स्वेच्छाचारी शासनकी भांति, स्वयं ही 'राज्य-सत्ता' नहीं हो सकता था, न वह स्वयं देशका स्वामी एवं आज्ञाकारी प्रजाओंके राष्ट्रका एक दायित्वहीन व्यक्तिगत शासक ही हो सकता था। प्रजाको धर्मकी ही आज्ञाका पालन करना होता था और परिषद्समेत राजाकी घोष-णाओंका पालन तो केवल इसी रूपमें करना होता था कि वे धर्मकी सेवा और रक्षा करनेके प्रशासनिक साधन हैं।

किंतु यदि परिषद्-जैसी एक छोटी-सी संस्था ही जो राजा और उसके मंत्रियोंके सीधे तथा सतत प्रभावके अधीन रहती थी, एकमात्र शासक संस्था होती तो वह अधोगतिको प्राप्त होकर तानाशाही शासनके यंत्रके रूपमें परिणत हो सकती थी। परंतु राज्यमें दो अन्य शक्तिशाली संस्थाएं भी थीं। वे समाज-रूपी संस्थानका अधिक बड़े पैमानेपर प्रतिनिधित्व करती थीं और राजाके सीधे प्रभावसे निर्मुक्त रहकर तथा राज्य-प्रबंध और प्रशासनिक विधान-निर्माणकी व्यापक और अटल शक्तियोंका प्रयोग करती हुई समाजके मन, प्राण और इच्छाको अधिक निकट एवं अंतरंग रूपमें प्रकट करती थीं और सदा-सर्वदा राज-शक्तिके नियंत्रकके रूपमें कार्य करनेकी सामर्थ्य रखती थीं, क्योंकि अपने असंतोषकी अवस्थामें वे एक अप्रिय या अत्याचारी राजासे छुटकारा पा सकती थीं अथवा जबतक वह जनताकी इच्छाके आगे शीश न झुकाता तबतक उसके लिये शासन चलाना असंभव कर सकती थीं। ये संस्थाएं थीं--महान् राजधानीय सभा और साधारण सभा (General Assembly) जो अपनी पृथक् शक्तियोंके प्रयोगके लिये तो पृथक् रूपमें अधिवेशन करती थीं और सारी प्रजासे संबंध रखनेवाले विषयोंके लिये सम्मिलित रूपमें।[1] पौर या राजधानीय नगर-सभाके अधिवेशन सदा ही राज्य या साम्राज्यके मुख्य नगरमें हुआ करते थे--और ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्यीय प्रणालीमें प्रांतोंके प्रधान नगरोंमें भी इसी प्रकारकी छोटी-छोटी सभाएं थीं, ये उन व्यवस्थापिका सभाओंके अवशेष थीं जो, इनके स्वतंत्र राज्योंकी राजधानियां होनेपर, इनपर शासन करती थीं--और यह (पौर सभा) नगर-निकायोंके तथा समाजके सभी वर्णों या कम-से-कम तीन निम्न वर्णोंकी विविध जातिगत संस्थाओंके प्रतिनिधियोंसे गठित होती थी। स्वयं निकाय और जातिगत संस्थाएं भी देश और नगर दोनोंमें समाजके सुघटित स्व-शासक अंग होती थीं और नागरिकोंकी सर्वोच्च सभा संपूर्ण संस्थानकी, जैसा कि वह राजधानीकी सीमाओंके भीतर अस्तित्व रखता था, समष्टि-सत्ताकी कृत्रिम नहीं वरन् सजीव प्रतिनिधि-संस्था होती थी। वह सीधे ही अथवा पांच, दस या अधिक सदस्यों-वाली अधीनस्थ लघुतर सभाओं और प्रशासनिक पर्षदों या समितियोंके द्वारा कार्य करती हुई नगरके संपूर्ण जीवनपर शासन करती थी, और, कुछ ऐसे नियमों एवं आज्ञप्तियोंके द्वारा जिनका निकायोंको पालन करना पड़ता था तथा सीधी शासन-व्यवस्थाके द्वारा नगर-समाजके व्यावसायिक, औद्योगिक, आर्थिक एवं पौर कार्योंका नियंत्रण तथा निरीक्षण करती थी। परंतु इसके साथ ही वह एक ऐसी शक्ति थी जिसका राज्यके अधिक व्यापक कार्योंमें परामर्श लेना आवश्यक होता था और जो ऐसे कार्योंमें, कभी तो पृथक् रूपमें और कभी साधारण

---

[1]इन सभाओंसे संबंध रखनेवाले तथ्य इस विषयकी श्रीजायसवालकी विशद कृतिसे लिये गये हैं जिसमें सब बातोंको अति सावधानतापूर्वक प्रमाणोंसे पुष्ट किया गया है। मैंने उन्हीं तथ्योंको चुना है जो मेरे कामके लिये महत्त्वपूर्ण हैं।



सभाके सहयोगसे, कार्रवाई कर सकती थी, और राजधानीमें निरंतर विद्यमान रहने तथा कार्य करनेके कारण वह एक ऐसी शक्ति बन गयी थी जिसे राजा और उसके मंत्रियों तथा उनकी परिषद्को भी सदैव मान्यता देनी पड़ती थी। राजाके मंत्रियों या राज्यपालोंके साथ संघर्ष होनेकी दशामें प्रांतोंमें अवस्थित दूरवर्ती पौर संसदें भी, अपने पद या विशेषाधिकारोंके विषयोंमें रुष्ट होनेपर या राजाके प्रबंधकर्ताओंसे असंतुष्ट होनेपर अपने असंतोषको महसूस करा सकती तथा अपराधी अफसरको पदच्युत करनेके लिये बाध्य कर सकती थीं।

इसी प्रकार साधारण सभा (General Assembly) राजधानीके सिवाय संपूर्ण देशके मन एवं उसकी इच्छाका सुघटित रूपमें प्रतिनिधित्व करती थी; क्योंकि वह नगर-प्रदेशों और ग्रामोंके प्रतिनिधियों, निर्वाचित अध्यक्षों या प्रधान व्यक्तियोंसे गठित होती थी। प्रतीत होता है कि इसकी रचनामें एक प्रकारका धनिक-तंत्रीय तत्त्व प्रविष्ट हो गया था, क्योंकि इसमें, मुख्यतया, प्रतिनिधित्व प्राप्त करनेवाले समाजोंके सुसमृद्ध व्यक्तियोंसे ही इसकी पूर्त्ति की जाती थी, और अतएव यह सर्वसाधारणकी सभाके ढंगकी ही एक सभा थी पर इसका रूप पूर्णतया जनतांत्रिक नहीं था,—यद्यपि बिलकुल हालकी आधुनिक संसदोंको छोड़कर अन्य सभी संसदोंके विपरीत, यह क्षत्रियों और वैश्योंके समान ही शूद्रोंको भी समाविष्ट करती थी,—पर फिर भी यह जनताके जीवन और मनको पर्याप्त सच्चे रूपमें प्रकट करती थी। तथापि यह परमोच्च संसद् नहीं थी : क्योंकि राजा और परिषद् या पौर-सभाके समान ही इसे भी साधारणतः विधान बनानेके मूल अधिकार प्राप्त नहीं थे, बल्कि केवल आज्ञप्ति जारी करने और व्यवस्थित करनेका ही अधिकार था। इसका काम यह था कि राष्ट्रके जीवनकी विविध प्रवृत्तियोंके बीच सुसंगति स्थापित करनेमें यह जनताकी इच्छाके एक प्रत्यक्ष यंत्रके रूपमें कार्य करे, इनकी यथोचित व्यवस्थाकी देखरेख करे और राष्ट्रके उद्योग-वाणिज्य, कृषि-कार्य तथा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवनकी सामान्य व्यवस्था और उन्नतिको साधित करनेकी ओर ध्यान दे, इस कार्यके लिये नियम और आज्ञप्तियां पास करे और राजा तथा उसकी परिषद्से विशेषाधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त करे, राजाके कार्योंके लिये जनताकी सहमति प्रदान करे या रोक लेवे और, यदि आवश्यकता हो तो, सक्रिय रूपमें उसका विरोध करके कुशासनका प्रतिकार करे या फिर प्रजाके प्रतिनिधियोंको जो भी उपाय सुलभ हों उनके द्वारा इसका अंत ही कर डाले। पौर और साधारण सभाओंके संयुक्त अधिवेशनसे उत्तराधिकारके मामलोंमें परामर्श लिया जाता था, वह राजाको गद्दीसे उतार सकता था, राजाकी मृत्यु होनेपर उत्तराधिकारमें परिवर्तन कर सकता था, शासक वंशसे बाहरके किसी व्यक्तिको गद्दीपर बिठा सकता था, राजनीतिक रंगत रखनेवाले मामलोंमें, राजद्रोहके या न्यायकी हत्या करनेके मामलोंमें कभी-कभी सर्वोच्च न्यायालयके रूपमें कार्य कर सकता था। राज्य-नीतिके किसी भी विषयपर राजाके प्रस्ताव इन सभाओंके प्रति विज्ञापित किये जाते थे और किसी विशेष कर, युद्ध, यज्ञ, एवं सिंचाईकी विशाल योजनाओं आदिसे संबद्ध सभी विषयोंमें तथा देशके

लिये अत्यंत महत्व रखनेवाले सभी प्रश्नोंमें इनकी स्वीकृति लेना आवश्यक होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों संस्थाओंके अधिवेशन नित्यप्रति हुआ करते थे, क्योंकि इनकी ओरसे कोई-न-कोई विषय प्रतिदिन ही राजाके पास पहुंचते थे: इनके कार्य राजाके द्वारा पंजीबद्ध किये जाते थे और अतएव स्वत: ही वे कानूनका-सा प्रभाव रखते थे। निश्चय ही, इनके अधिकारों और कार्योंका पूर्णतया पर्यालोचन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये राजाके अधिकारमें हिस्सा बंटाती थीं और राजाकी शक्तियां इनमें अंतर्निहित थीं और यहां-तक कि जो शक्तियां साधारणतः उनके क्षेत्रके भीतर नहीं होती थीं उन्हें भी ये असाधारण अवसरोंपर प्रयोगमें ला सकती थीं। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि समाजके धर्मको परिवर्तित करनेके अपने प्रयत्नमें अशोकने केवल अपनी राजाज्ञा जारी करके ही नहीं बल्कि व्यवस्थापिका सभाके साथ विचार-विमर्श करके आगे कदम बढ़ाया था। अतएव इन दो संस्थाओं-(की विशेषता) का यह प्राचीन वर्णन बिलकुल ठीक प्रतीत होता है कि ये राजकार्यकी परिचालिका होती थीं और जरूरत पड़नेपर राजाके शासनका विरोध करनेवाले उपकरणोंके रूपमें कार्य करती थीं।

यह स्पष्ट रूपसे पता नहीं चलता कि ये महान् संस्थाएं कब लुप्त हो गयीं, मुसलमानोंके आक्रमणसे पहले या विदेशियोंकी विजयके परिणामस्वरूप। यदि ऊपरसे एकाएक यह प्रणाली किसी प्रकार भंग हो गयी हो जिससे राज-शासन तथा सामाजिक-राजनीतिक संगठनके अन्य अंगोंमें खाई पैदा हो गयी हो और, परिणामतः, राजा अपने पार्थक्यके कारण अधिक स्वेच्छाचारी बन गया हो तथा अधिक व्यापक राष्ट्रीय कार्योंका नियंत्रण उसने एकमात्र अपने हाथमें ले लिया हो और सामाजिक-राजनीतिक संगठनके अन्य अंगोंमेंसे प्रत्येक अपना आंतरिक कार्य-व्यापार तो स्वयं चलाता हो––ग्राम-समाजोंकी अवस्था अंततक ऐसी ही रही––पर राज्यके उच्चतर विषयोंके साथ किसी प्रकारका जीवंत संबंध न रखता हो तो इस प्रकारकी अवस्था जटिल सामुदायिक स्वतंत्रताके संगठनमें जहां जीवनके परस्पर-सामंजस्यकी अनिवार्य आवश्यकता थी, स्पष्टतः ही दुर्बलताका एक महान् कारण हुई होगी। कुछ भी हो, मध्य एशियासे जो आक्रमण हुआ वह अपने साथ एक ऐसे व्यक्तिगत एवं निरंकुश शासनकी परंपरा लेकर आया जो इन प्रतिबंधोंसे अपरिचित था। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि वह ऐसी संस्थाओंका, अथवा इनके अवशेषों या अद्यावधि जीवित रूपोंका, जहां कहीं भी वे अभीतक विद्यमान हों, तुरंत उन्मूलन कर दे, और संपूर्ण उत्तर-भारतमें यही हुआ। दक्षिणमें भारतीय राजनीतिक प्रणाली फिर भी अनेक सदियोंतक कायम रही, पर ऐसा प्रतीत होता है कि जो जनसभाएं वहां प्रचलित रहीं उनकी रचना वैसी नहीं थी जैसी इन प्राचीन राजनीतिक संस्थाओंकी थी, बल्कि वास्तवमें वे कुछ अन्य सामाजिक संगठन और सभाएं थीं जिनका ये एक सुसमन्वित रूप थीं तथा जिनके नियंत्रणका एक सर्वोच्च साधन थीं। इन हीन कोटिके सभासंगठनोंमें ऐसी संस्थाएं समाविष्ट थीं जिनका मूल स्वरूप राज-

नीतिक था, ये थीं किसी समयकी सर्वोच्च शासक संस्थाएं, **कुल** और **गण**। नये विधानके अंतर्गत ये बनी तो रहीं पर अपने सर्वोच्च अधिकार खो बैठीं और अपने अंगभूत समाजोंके कार्य-व्यापारका गौण एवं मर्यादित अधिकारके साथ प्रबंधभर कर सकती थीं। कुल अपना राजनीतिक स्वरूप खो चुकनेके बाद भी एक सामाजिक-धार्मिक संस्थाके रूपमें, विशेषकर क्षत्रियोंमें, दृढ़ रूपसे कायम रहा, और उसने अपने सामाजिक एवं धार्मिक विधान, **कुलधर्म**की परंपराको तथा कहीं-कहीं अपनी जातीय सभा, **कुल-संघ**को भी सुरक्षित रखा। दक्षिण भारतमें हम देखते हैं कि सर्वथा अर्वाचीन समयमें भी जनसभाएं प्राचीन साधारण सभाकी स्थानपूर्ति करती रहीं, एक ही समय ऐसी एकसे अधिक जनसभाएं भी विद्यमान रहीं और वे अलग-अलग या मिलकर कार्य करती रहीं। ये उक्त प्रकारकी साधारण सभा (General Assembly) के ही प्रकारांतर प्रतीत होती हैं। राजपूतानेमें भी **कुल**ने अपना राजनीतिक वैशिष्टच एवं कर्तृत्व फिरसे प्राप्त किया पर इसका रूप कुछ और था और इसमें न तो प्राचीन संस्थाएं थीं और न सूक्ष्मतर सांस्कृतिक प्रकृति, यद्यपि इन कुलोंने साहस, शूर-वीरता, उदारता और सम्मान-रूपी क्षत्रिय धर्मको उच्च मात्रामें सुरक्षित रखा।

भारतीय समाज-तंत्रमें एक इससे भी प्रबल स्थायी तत्त्व विद्यमान था। वह चार वर्णोंके ढांचेमें ही विकसित हुआ——यहांतक कि अंतमें उसने इसका स्थान ही ले लिया——और असाधारण जीवन-शक्ति, स्थायिता और प्रबल महत्ता प्राप्त कर ली। वह था ऐतिहासिक जाति-प्रथाका तत्त्व जो आज ह्रासकी ओर भले ही बढ़ रहा हो, पर अबतक भी दृढ़ रूपमें विद्यमान है। मूल रूपमें यह प्रथा चार वर्णोंके उपविभागोंसे उद्भूत हुई जो प्रत्येक वर्णमें विविध शक्तियोंके दबावके वश विकसित हुए। ब्राह्मण वर्णका उपविभाजन मुख्यतः धार्मिक, सामाजिक-धार्मिक और कर्मकांडीय कारणोंसे हुआ, परंतु कुछ विभाजन प्रादेशिक और स्थानीय भी थे: क्षत्रिय, अधिकांशमें, एक ही ऐक्ययुक्त वर्ण रहे, यद्यपि कुलोंके रूपमें विभाजित अवश्य थे। दूसरी ओर, आर्थिक कार्योंके उपविभाजनकी आवश्यकताके वश वैश्य और शूद्र-वर्ण आनुवंशिकताके सिद्धांतके आधारपर अगणित जातियोंमें विभक्त हो गये। आनुवंशिकता-के सिद्धांतके अधिकाधिक कठोर प्रयोगके बिना भी, कार्य-व्यापारका यह स्थिर उपविभाजन, अन्य देशोंकी भांति, निगम-प्रणालीके द्वारा काफी सुचारु रूपसे साधित हो सकता था, और शहरोंमें हम एक सबल एवं कार्यदक्ष निगम-प्रणालीका अस्तित्व पाते ही हैं। परंतु आगे चल-कर निगम-प्रणालीका प्रचलन समाप्त हो गया और जातिकी अधिक सामान्य प्रथा ही सर्वत्र आर्थिक कार्यका एकमात्र आधार बन गयी। शहर और गांवमें जाति एक पृथक् सामाजिक इकाई थी जो एक साथ ही धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक होती थी और अपने धार्मिक, सामाजिक एवं अन्यान्य प्रश्नोंका निपटारा करती थी, समस्त बाह्य हस्तक्षेपसे पूर्णतः मुक्त रहते हुए अपने जातिविषयक कार्योंका संचालन करती तथा अपने सदस्योंपर न्यायसंगत अधि-कारका प्रयोग करती थी: केवल धर्मविषयक मूलभूत प्रश्नोंपर प्रामाणिक व्याख्या या निर्णय

प्राप्त करनेके लिये शास्त्रके संरक्षकोंके रूपमें ब्राह्मणोंसे सम्मति ली जाती थी। **कुलकी** भांति प्रत्येक जातिका भी अपना जातीय विधान तथा जीवन एवं आचरणका नियम, **जातिधर्म**, होता था और साथ ही अपना **जातिसंघ** भी। क्योंकि भारतीय शासनप्रणाली अपनी सभी संस्थाओंमें वैयक्तिक नहीं बल्कि सामाजिक आधारपर प्रतिष्ठित थी, जाति भी राज्यके राजनीतिक एवं प्रशासनिक कार्य-व्यापारमें महत्त्व रखती थी। इसी प्रकार निगम भी समाजकी ऐसी व्यापारिक एवं औद्योगिक इकाइयां थे जो अपना कार्य आप चलाती थीं, वे अपने कार्यों-पर विचार करने तथा उनका प्रबंध करनेके लिये सभाएं करते थे और इसके साथ ही उनकी संयुक्त सभाएं भी होती थीं जो, प्रतीत होता है कि किसी समय, शासन करनेवाली पौर संस्थाएं रही होंगी। ये निगम-सरकारें, यदि इन्हें ऐसा नाम दिया जा सकता हो,—क्योंकि ये नगरपालिकाओंसे अधिक कुछ थीं,—आगे चलकर एक अधिक व्यापक पौर संस्थामें विलीन हो गयीं जो निगमों तथा सभी वर्णोंके जातिसंघों दोनोंकी सुघटित एकताका प्रतिनिधित्व करती थी। जातियां अपने निज रूपमें राज्यकी साधारण सभामें सीधा प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त करती थीं, पर स्थानीय कार्य-व्यापारके प्रशासनमें उनका अपना स्थान अवश्य होता था।

ग्राम-समाज और नगर-समाज अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमें, संपूर्ण प्रणालीका एक स्थिर आधार थे; पर, यह ध्यानमें रखना होगा कि ये केवल निर्वाचन एवं प्रशासनसंबंधी या अन्य उप-योगी सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोजनोंके लिये प्रादेशिक इकाइयां या सुविधापूर्ण साधन नहीं थे, बल्कि ये सदा ही सच्चे एकतात्मक समाज होते थे जिनका अपना ही सुघटित जीवन होता था जो राज्यकी मशीनरीके केवल एक गौण अंगके रूपमें नहीं वरन् अपने पूरे अधि-कारके साथ कार्य करता था। ग्राम-समाजको एक छोटा-सा ग्राम-गणराज्य कहकर वर्णित किया गया है, और इस वर्णनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है: क्योंकि प्रत्येक गांव अपनी सीमाओंके भीतर स्वायत्त और आत्म-निर्भर था, अपनी ही निर्वाचित पंचायतों और निर्वाचित या वंशानुगत अफसरोंके द्वारा शासित होता था, अपनी आवश्यकताएं आप पूरी करता था, अपनी शिक्षा, पुलिस और अदालतोंकी, अपनी सभी आर्थिक आवश्यकताओं और कार्य-प्रवृत्ति-योंकी स्वयं व्यवस्था करता था, एक स्वतंत्र और स्व-शासक इकाईके रूपमें अपने जीवनका आप ही प्रबंध करता था। गांव एक दूसरेके साथके अपने कार्योंको भी नाना प्रकारके सम-वायोंके द्वारा परिचालित करते थे और इसके साथ ही ग्रामोंके समूह भी बनाये जाते थे जो निर्वाचित या वंशक्रमागत अध्यक्षोंके अधीन होते थे और अतएव, कम घनिष्ठ रूपमें संगठित ही सही, एक स्वाभाविक संघका गठन करते थे। परंतु यह तथ्य इससे कुछ कम आश्चर्य-जनक नहीं है कि भारतमें नगर-प्रदेश भी स्वायत्त और स्वशासक संस्थान होते थे जो, निर्वा-चन-प्रणालीसे युक्त तथा मतका प्रयोग करनेवाली अपनी ही सभा-समितियोंके द्वारा शासित होते थे, अपने ही निज अधिकारसे अपने कार्य-कलापका प्रबंध करते थे और ग्रामोंके ही समान राज्यकी साधारण सभामें अपने प्रतिनिधि भेजते थे। इन पौर सरकारोंके शासन-

प्रबंधमें वे सभी कार्य आ जाते थे जो नागरिकोंके भौतिक या अन्य प्रकारके हितमें सहायक होते हैं, जैसे, पुलिस, न्यायसंबंधी मामले, सार्वजनिक कार्य और पवित्र एवं सार्वजनिक स्थानों-की देख-भाल, रजिस्टरी, पौर करोंका संग्रह और व्यापार तथा उद्योग-वाणिज्यसे संबंध रखने-वाले सभी विषय। यदि ग्राम-समाजको एक छोटा-सा ग्राम-गणराज्य कहा जा सकता है तो बिलकुल उसी प्रकार नगर-प्रदेशके संविधानको एक अधिक बड़ा नगर-गणराज्य कहकर वर्णित किया जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि नैगम और पौर सभाओंको,—निगम-सरकारों और पौर संस्थाओंको,—अपने सिक्के ढालनेका विशेषाधिकार प्राप्त था, जो कि वैसे राज्यों तथा गणतंत्रोंके अध्यक्षभूत राजाओंके द्वारा ही प्रयोगमें लाया जाता था।

कुछ अन्य प्रकारके समाजोंको भी ध्यानमें रखना होगा जिनकी सत्ता राजनीतिक तो बिलकुल नहीं थी, पर फिर भी जिनमेंसे प्रत्येक अपने-अपने ढंगसे एक स्व-शासक संगठन था; क्योंकि वे भारतीय जीवनकी अपनी सभी अभिव्यक्तियोंमें अपने-आपको सत्ताके एक घनिष्ठतः सामाजिक रूपमें प्रकट करनेकी प्रबल प्रवृत्तिको निर्दशित करते हैं। उनका एक उदाहरण है संयुक्त परिवार, जो भारतमें सर्वत्र प्रचलित है और केवल अब जाकर ही, आधु-निक अवस्थाओंका दबाव पड़नेके कारण, छिन्न-भिन्न हो रहा है। इसके दो मूल सिद्धांत थे—प्रथमतः, पितृवंशीय संबंधियों और उनके परिवारोंका अपनी संपत्तिपर सामुदायिक अधि-कार और, जहांतक बन पड़े, परिवारके प्रधान व्यक्तिके प्रबंधके अधीन एक अविभक्त सामा-जिक जीवन यापन करना और, दूसरे अपने पिताके भागमें प्रत्येक लड़केका समान भागका दावा, जो भाग कि अलग होने तथा जायदादका बंटवारा करनेकी हालतमें उसका प्राप्य होगा। व्यक्तिके अटल पृथक् अधिकारसे युक्त यह सामाजिक एकता इस बातका उदाहरण है कि भारतीय मन और जीवनमें समन्वयात्मक प्रवृत्ति विद्यमान थी, उसने मौलिक प्रवृत्तियों-को जाना-पहचाना था और यद्यपि वे अपने व्यावहारिक रूपमें एक-दूसरीकी विरोधिनी मालूम होती थीं फिर भी उनमें सामंजस्य बैठानेकी चेष्टा की थी। यह वही समन्वयकारी प्रवृत्ति है जिसने भारतकी सामाजिक-राजनीतिक प्रणालीके सभी अंगोंमें धर्मतंत्रीय, राजतंत्रीय और अभिजाततंत्रीय, धनिकतंत्रीय और प्रजातंत्रीय प्रवृत्तियोंको नाना प्रकारसे एक-दूसरीके साथ घुला-मिलाकर एक समग्र प्रणालीमें परिणत करनेका यत्न किया, और वह प्रणाली उनमेंसे किसीके भी विशेष लक्षणोंसे युक्त नहीं थी, न वह उनका एक-दूसरीके साथ कोई ऐसा अनु-कूलन या मिश्रण ही थी जो नियंत्रणों एवं संतुलनोंकी पद्धतिके द्वारा या बुद्धि-विरचित समन्वयके द्वारा साधित किया गया हो, बल्कि वह भारतके जटिल सामाजिक मन और प्रकृति-की सहजात प्रवृत्तियों एवं चारित्र्यका स्वाभाविक बाह्य रूप थी।

दूसरे छोर पर, जो भारतीय प्राणिक मनका संन्यासमार्गीय एवं शुद्ध आध्यात्मिक छोर है, हम धार्मिक संघको देखते हैं और, फिर, यह भी सामाजिक रूप ग्रहण कर लेता है। आदि वैदिक समाजमें किसी प्रकारके 'चर्च' या धार्मिक संघ या पुरोहित-संप्रदायके लिये कोई

स्थान नहीं था, क्योंकि उसकी प्रणालीमें संपूर्ण जन-समुदाय एक ही अखंड सामाजिक-धार्मिक समष्टि थी जिसमें 'धार्मिक' और 'लौकिक' में, सामान्य मनुष्य और पुरोहितमें, कोई भेद नहीं था, और बादकी प्रगतियोंके होनेपर भी हिंदू धर्म, समग्रतया या कम-से-कम आधारके रूपमें, इस मूल सिद्धांतपर दृढ़ रहा है। दूसरी ओर, एक संन्यासमार्गीय प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी जिसने समय पाकर धार्मिक जीवन और सांसारिक जीवनके भेदको जन्म दिया तथा पृथक् धार्मिक समाजकी रचनामें सहायता की। बौद्धों और जैनोंके मत-संप्रदायों तथा साधनाभ्यासोंके प्रादुर्भावसे उस प्रवृत्तिको बल प्राप्त हुआ। बौद्धोंका भिक्षु-संघ संगठित धार्मिक समाजके पूर्ण रूपका सर्वप्रथम विकास था। यहां हम देखते हैं कि बुद्धने केवल भारतीय समाज और शासनतंत्रके प्रसिद्ध मूलसूत्रोंका संन्यास-जीवनपर प्रयोग मात्र किया। उन्होंने जिस संघका निर्माण किया वह एक धर्म-संघके रूपमें अभिप्रेत था, और प्रत्येक मठ एक ऐसे धार्मिक संस्थानके रूपमें अभिमत था जो एक संयुक्त सामाजिक संस्थाका जीवन यापन करता था, वह संस्था धर्मके बौद्ध-सम्मत स्वरूपकी एक अभिव्यक्तिके रूपमें अस्तित्व रखती थी तथा अपने जीवनके सभी नियमों, विशेष लक्षणों तथा रूप-रचनामें धर्मके परिपालनपर ही आधारित थी। जैसा कि हमें तुरंत पता चल सकता है, संपूर्ण हिंदू समाजका मूलतत्त्व एवं सिद्धांत ठीक यही था, परंतु यहां इसे वह उच्चतर तीव्रता प्रदान कर दी गयी थी जो आध्यात्मिक जीवन तथा शुद्ध धार्मिक संस्थाके लिये संभव हो सकती थी। यह संघ अपने कार्योंकी व्यवस्था भी भारतकी सामाजिक और राजनीतिक अखंड समष्टियोंकी भांति करता था। संघकी सभा धर्म और इसके प्रयोगके विवादास्पद प्रश्नोंपर बहस करती थी और गणराज्योंके सभा-भवनोंकी भांति मतसंग्रहके द्वारा अपनी कार्रवाई चलाती थी, किंतु फिर भी वह एक सीमाकारी नियंत्रणके अधीन रहती थी जिसका उद्देश्य एक कोरी और निपट जनतांत्रिक प्रणालीकी संभव बुराइयोंसे बचना होता था। इस प्रकार जब यह मठ-प्रणाली एक बार दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हो गयी तो कट्टरपंथी धर्मने इसे बौद्ध धर्मसे लेकर अपना लिया, पर इसका विस्तृत संगठन उसने नहीं अपनाया। ये धार्मिक समाज जहां कहीं भी प्राचीनतर ब्राह्मण-प्रणालीके विरुद्ध विजय लाभ कर सके, जैसे, शंकराचार्य-प्रवर्तित संप्रदायमें, वहां ये समाजके साधारण जन-समुदायके एक प्रकारके धार्मिक नायक बनते चले गये, किंतु इन्होंने राजनीतिक पदपर स्वत्व रखनेका दावा बिलकुल नहीं किया और 'चर्च' तथा राज्यका संघर्ष भारतके राजनीतिक इतिहासमें कभी देखनेमें नहीं आया।

अतएव यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतके संपूर्ण जीवनने महान् राज्यों एवं साम्राज्योंके समयमें भी अपने प्रथम सिद्धांत एवं मूलभूत कार्यप्रणालीको सुरक्षित रखा और इसकी समाज-व्यवस्था, मूलतः, स्व-निर्धारित तथा स्व-शासक सामाजिक संस्थाओंकी एक जटिल प्रणाली ही रही। अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी इस प्रणालीके स्थानमें एक संगठित राज्य-सत्ताका विकास करना जो आवश्यक हो उठा, इसका कारण कुछ तो यह था कि व्यावहारिक

बुद्धिने उससे अधिक कठोर तथा वैज्ञानिक रूपमें फलप्रद सामंजस्यकी मांग की जितना कि, छोटे क्षेत्रोंको छोड़कर, जीवनके शिथिलतर स्वाभाविक सामंजस्यके लिये संभव था, और इस-से अधिक अनिवार्य कारण यह था कि एक ऐसे सुव्यवस्थित सैनिक आक्रमण, प्रतिरक्षा तथा अंतर्राष्ट्रीय कार्रवाईकी जरूरत पैदा हो गयी जो एक ही केंद्रीय सत्ताके हाथोंमें केंद्रित हो। इनमेंसे पहली मांगको पूरा करनेके लिये स्वतंत्र गणतांत्रिक राज्यका विस्तार भी पर्याप्त हो सकता था, क्योंकि उसमें इसके लिये उपयुक्त क्षमता और आवश्यक संस्थाएं विद्यमान थीं, परंतु अपनी अधिक संकुचित और सहज-प्राप्य केंद्रीयतासे युक्त राजतंत्रात्मक राज्यकी पद्धतिने एक अधिक आसान तथा प्रबंध-योग्य उपाय-योजना एवं एक अधिक सुगम तथा प्रत्यक्षतः कार्यक्षम मशीनरी प्रस्तुत कर दी। और (देशकी प्रतिरक्षा आदिके) बाह्य कार्यमें तो लग-भग शुरूसे ही भारतके, जो तब देशकी अपेक्षा कहीं अधिक एक महाद्वीप था, राजनीतिक एकीकरणकी अतीव विकट युगव्यापी समस्या भी सम्मिलित थी; सुतरां, इस बाह्य कार्यके लिये गणतांत्रिक प्रणाली अपने पर्याप्त सैनिक संगठनके होते हुए भी अनुपयुक्त सिद्ध हुई, क्यों-कि वह आक्रमणकी अपेक्षा प्रतिरक्षात्मक शक्तिके लिये ही अधिक उपयुक्त थी। अतएव अन्य देशोंकी भांति भारतमें भी राजतंत्रात्मक राज्यका प्रबल रूप ही अंतमें विजयी हुआ तथा अन्य सबको निगल गया। तथापि अपनी मूलभूत संस्थाओं और आदर्शोंके प्रति भार-तीय मनकी निष्ठाने सामुदायिक स्वशासनके, जो जनताकी आभ्यंतरिक प्रकृतिके लिये स्वा-भाविक था, आधारको सुरक्षित रखा, राजतंत्रात्मक राज्यको तानाशाहीके रूपमें विकसित नहीं होने दिया, न उसे अपने समुचित कर्तव्योंका अतिक्रमण ही करने दिया, साथ ही समाजके जीवनको यांत्रिक रूप देनेकी उसकी प्रक्रियाका सफलतापूर्वक विरोध भी किया। हां, ह्रासके सुदीर्घ कालमें ही हम देखते हैं कि राजतंत्रीय शासन, और जनताके आत्म-निर्धारक सामा-जिक जीवनके बीचकी स्वतंत्र संस्थाएं विलीन होने लगीं या फिर अपनी प्राचीन शक्ति और तेजको अधिकांशमें खोने लगीं और वैयक्तिक शासनकी, क्लर्कों तथा अफसरोंकी नौकरशाही-की तथा एक अति प्रबल केंद्रीभूत सत्ताकी बुराइयां किसी गोचर मात्रामें प्रकट होनी शुरू हो गयीं। जबतक भारतीय शासन-पद्धतिकी प्राचीन परंपराएं कायम रहीं और जिस अनु-पातमें वे सजीव और प्रभावशाली बनी रहीं तबतक और उस अनुपातमें ये बुराइयां केवल कहीं-कहीं एवं कभी-कभी ही पैदा होती रहीं या फिर कोई भीषण आकार नहीं ग्रहण कर सकीं। विदेशियोंके आक्रमण तथा उनकी विजय और प्राचीन भारतीय संस्कृतिके क्रमिक ह्रास एवं अंतिम पतन—इन दोनोंने मिलकर ही पुरानी रचनाके प्रधान-प्रधान भागोंको विध्वस्त कर डाला तथा लोगोंके सामाजिक-राजनीतिक जीवनको अवनत और छिन्न-भिन्न कर डाला, यहांतक कि पुनरुज्जीवन या नव-निर्माणके पर्याप्त साधन भी नहीं बच रहे।

इसके विकासकी अत्युच्च अवस्थामें तथा भारतीय सभ्यताके महान् दिनोंमें हम एक अत्युत्तम राजनीतिक प्रणाली देखते हैं जो सर्वोच्च मात्रामें कार्यक्षम थी और सामाजिक स्व-

शासन तथा स्थिरता एवं व्यवस्थाका संयोग अत्यंत पूर्ण रूपमें साधित किये हुई थी। राज्य अपने प्रशासनिक, न्यायसंबंधी, आर्थिक और रक्षणात्मक कार्यको जनताके तथा इन्हीं विभागोंसे संबंधित इसकी अंगभूत संस्थाओंके अधिकारों एवं स्वतंत्र कार्य-कलापोंको विनष्ट किये बिना या इनमें हस्तक्षेप किये बिना परिचालित करता था। राजधानी और शेष सारे देशके राजकीय न्यायालय एक सर्वोच्च न्याय-सत्ता थे जो राज्यभरमें न्याय-प्रबंधमें सामंजस्य स्थापित करती थी, परंतु वे न्यायालय ग्राम तथा नगरके संस्थानोंके द्वारा अपनी अदालतोंको सौंपे गये न्यायाधिकारोंमें अनुचित हस्तक्षेप नहीं करते थे, और, यहांतक कि, राजकीय प्रणाली मध्यस्थताके एक विशाल साधनके रूपमें कार्य करनेवाले निगम, जाति और कुलके न्यायालयोंको भी अपने साथ संबंधित रखती थी और केवल अधिक भयानक अपराधोंपर ही एकमात्र अपना नियंत्रण रखनेका आग्रह करती थी। ग्राम और नगरके संस्थानोंकी प्रशासनिक एवं आर्थिक शक्तियोंके प्रति भी इसी प्रकारका सम्मान प्रदर्शित किया जाता था। शहर और देहातमें राजाके राज्यपालों और पदाधिकारियोंके साथ-ही-साथ, जनता और उसकी व्यवस्थापिका सभाओंके द्वारा नियुक्त पौर शासक और पदाधिकारी तथा सामाजिक मुखिया और पदधारी भी रहा करते थे। राष्ट्रकी धार्मिक स्वाधीनता या उसके सुप्रतिष्ठित आर्थिक एवं सामाजिक जीवनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था; वह अपनेको सामाजिक व्यवस्थाकी रक्षातक तथा समस्त राष्ट्रीय कार्यकलापके समृद्ध एवं शक्तिशाली संचालनके लिये अपेक्षित निरीक्षण एवं साहाय्य तथा सुसंगति एवं सुविधाओंके प्रबंधतक ही सीमित रखता था। भारतके सामाजिक मनके द्वारा पहलेसे ही सृष्ट स्थापत्य, कला-शिल्प, संस्कृति, ज्ञान और साहित्यके लिये भव्य और उदार प्रेरणाके स्रोतके रूपमें अपने सुयोगोंको भी वह बराबर हीं समझता था और उन्हें समुज्ज्वल रूपमें चरितार्थ भी करता था। राजाके व्यक्तित्वके रूपमें वह एक महान् एवं सुस्थिर सभ्यता तथा स्वतंत्र एवं जीवंत जातिका प्रतिष्ठित और शक्तिशाली नायक था तथा राजाके प्रशासनकी पद्धतिके रूपमें वह इस सभ्यता एवं जातिका एक सर्वोच्च यंत्र था जो न तो कोई मनमानी तानाशाही या नौकरशाही था और न जीवनका दमन करनेवाली या उसका स्थान ले लेनेवाली मशीन।

भारतीय संस्कृतिका समर्थन

अठारहवां अध्याय

भारतीय शासनप्रणाली

भारतीय समाजतंत्र एवं राष्ट्रतंत्रके तथ्योंका यथार्थ ज्ञान एवं इनके स्वरूप और सिद्धांतका यथायथ बोध पश्चिमी आलोचकोंके इस तर्कका तुरंत निराकरण कर देता है कि भारतीय मन यद्यपि दर्शन, धर्म, कला और साहित्यमें विलक्षण था तथापि जीवनका संगठन करनेमें अयोग्य था, व्यावहारिक बुद्धिके कार्योंमें हीन कोटिका था और, विशेषकर, राजनीतिक परीक्षणमें असफल था तथा इसका इतिवृत्त सबल राजनीतिक निर्माण, चिंतन एवं कर्मसे शून्य है। इसके विपरीत, भारतीय सभ्यताने एक उच्च कोटिकी राजनीतिक प्रणालीका विकास किया था जो ठोस रूपमें तथा स्थायी दृढ़ताके साथ निर्मित की गयी थी; साथ ही, पौर संघटनके अपने प्रयत्नोंमें मनुष्यका मन जिन राजतंत्र, जनतंत्र तथा अन्य शासनतंत्रोंके सिद्धांतों और प्रवृत्तियोंकी ओर झुका है उन सबको भारतीय सभ्यताने अद्भुत कौशलसे एक-दूसरेके साथ संयुक्त किया और फिर भी वह यांत्रीकारक प्रवृत्तिकी उस अतिसे मुक्त रही जो कि आधुनिक यूरोपीय राज्यका दोष है। पश्चिमके विकाससंबंधी दृष्टिकोण तथा प्रगति-विषयक विचारको लेकर इसपर जो आक्षेप किये जा सकते हैं उनपर मैं आगे चलकर विचार करूंगा।

परंतु राजनीतिका एक और भी पहलू है जिसके बारेमें यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीतिक मानसने अपने इतिहासमें असफलताके सिवा और कुछ भी अंकित नहीं किया। इसने जिस राष्ट्र-व्यवस्थाका विकास किया वह प्राचीन अवस्थाओंमें स्थिरता तथा प्रभावशाली प्रशासनके लिये और प्राचीन अवस्थाओंमें सामाजिक सुश्रृंखला एवं सर्वविध स्वाधीनता तथा जनहितको अधिगत करनेके लिये भले ही सराहनीय रही हो, पर यद्यपि इस देशकी अनेकों जातियोंमेंसे प्रत्येक पृथक्-पृथक् स्व-शासित, सुशासित और समृद्ध थी और, व्यापक रूपमें, सारा देश भी अपनी अत्युन्नत सभ्यता एवं संस्कृतिके स्थिरतापूर्वक कार्य करते रहनेके बारेमें आश्वस्त था, तथापि वह राष्ट्र-व्यवस्था भारतके राष्ट्रीय और राजनीतिक

एकीकरणको साधित करनेमें असफल रही और अंतमें विदेशी आक्रमणसे, इसकी संस्थाओंके विघटन तथा इसकी युगव्यापी दासतासे इसकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ रही। इसमें संदेह नहीं कि किसी समाजकी राजनीतिक प्रणालीकी परीक्षा, प्रथमतः और प्रधानतः, इस बातके द्वारा करनी होगी कि वह जनताके लिये सुस्थिरता, समृद्धि, आंतरिक स्वाधीनता एवं व्यवस्थाको कहांतक सुनिश्चित करती है, पर साथ ही इसके द्वारा भी कि कहांतक वह अन्य राज्योंके विरुद्ध सुरक्षाकी दीवार खड़ी करती है तथा बाह्य प्रतिद्वंद्वियों और शत्रुओंके विरुद्ध उसमें कितनी एकता है एवं प्रतिरक्षा और आक्रमण करनेकी कितनी शक्ति है। संभवतः यह मानवजातिके लिये पूर्ण रूपसे प्रशंसाकी बात नहीं है कि राजनीतिक प्रणाली ऐसी ही होनी चाहिये, और जो राष्ट्र या जाति इस प्रकारकी राजनीतिक शक्तिमें हीन है, जैसे कि प्राचीन यूनानी और मध्ययुगीन इटालियन थे, वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे अपने विजेताओंकी अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ हो सकती है और सच्ची मानव-प्रगतिमें उसका योगदान सफल सैनिक राज्यों, आक्रमणशील समाजों तथा लुटेरे साम्राज्योंकी अपेक्षा अधिक महान् हो सकता है। परंतु मनुष्यका जीवन अभी भी प्रधान रूपसे प्राणिक है और अतएव यह विस्तार, अधिकार और आक्रमणकी तथा दूसरेको निगलने एवं उसे जीतकर उसपर आधिपत्य जमानेके लिये पारस्परिक संघर्षकी प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होता है जो कि जीवनका प्रथम नियम हैं, और जो सामूहिक मन एवं चेतना लगातार ही आक्रमण और प्रतिरक्षामें अक्षमताका प्रमाण देती है तथा अपनी सुरक्षाके लिये आवश्यक केंद्रीभूत एवं कार्यक्षम एकताको संघटित नहीं करती वह स्पष्टतः ही एक ऐसा मन एवं चेतना है जो राजनीतिक क्षेत्रमें प्रथम श्रेणीसे बहुत ही नीचे रह जाती है। राष्ट्रीय और राजनीतिक रूपमें भारत कभी भी एक नहीं रहा है। करीब एक हजार सालतक भारत बर्बर आक्रमणोंसे क्षत-विक्षत होता रहा तथा लगभग और एक हजार वर्षतक एकके बाद एक विदेशी प्रभुओंका दास रहा। इसलिये, स्पष्टतः ही, भारतजातिके विरुद्ध यह निर्णय देना होगा कि यह राजनीतिक दृष्टिसे अक्षम थी।

यहां, फिर, पहली आवश्यकता इस बातकी है कि हम अतिरंजनाओंको त्याग कर अपने मनमें यथार्थ तथ्यों एवं उनके अर्थके संबंधमें स्पष्ट धारणा बनायें और जो समस्या स्पष्टतः ही भारतके सारे लंबे इतिहासमें अपना ठीक हल नहीं पा सकी, उसकी अंतर्निहित प्रवृत्तियों और सिद्धांतोंको हृदयंगम करें। और सर्वप्रथम, यदि किसी जाति और सभ्यताकी महानताका मूल्य उसकी सैनिक आक्रमणकारिता, उसकी विदेश-विजयके मापदंड, अन्य राष्ट्रोंके साथ युद्धमें उसकी सफलता तथा उसकी संगठित धन-लिप्सा और डकैतीकी प्रवृत्तियोंकी विजय, राज्य-विस्तार और शोषणके लिये उसके अदम्य आवेगके द्वारा आंका जाना हो तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत्‌की महान् जातियोंकी सूचीमें भारत शायद सबसे नीचे स्थान पायेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत अपनी सीमाओंके परे आक्रमणके द्वारा सैनिक और राजनीतिक विस्तार करनेके लिये कभी प्रेरित नहीं हुआ; भारतीय सफलताके इतिहासमें

विश्व-प्रभुत्वका कोई भी महान् काव्य, सुदूरव्यापी आक्रमण या विस्तारशील औपनिवेशिक साम्राज्यकी कोई भी महान् कथा कभी नहीं लिखी गयी। जिस विस्तार, आक्रमण और विजयके लिये उसने एकमात्र महत् प्रयास किया वह था अपनी संस्कृतिका विस्तार तथा बौद्ध विचारके द्वारा और अपनी आध्यात्मिकता, कला तथा विचार-शक्तियोंके प्रवेशके द्वारा पूर्वीय जगत्पर आक्रमण एवं विजय। और यह युद्धका नहीं बल्कि शांतिका आक्रमण था, क्योंकि बल-प्रयोग एवं भौतिक विजयके द्वारा, जो आधुनिक साम्राज्यवादकी मिथ्या बड़ाई या छल है, आध्यात्मिक सभ्यताका प्रसार करना उसके मन और स्वभावकी प्राचीन गठनके तथा उसके धर्मके आधारभूत विचारके विपरीत होता। निःसंदेह, उपनिवेश बसानेवाले अभियानोंकी एक श्रृंखला भारतीय रक्त और भारतीय संस्कृतिको इजियन सागर (Archipelago) के द्वीपोंतक ले गयी, परंतु पूर्वीय और पश्चिमी दोनों तटोंसे जिन जहाजोंने प्रस्थान किया वे कोई ऐसे आक्रांताओंके जहाजी बेड़े नहीं थे जिनका उद्देश्य उन सीमांतवर्ती देशोंको भारतीय साम्राज्यमें मिला लेना हो बल्कि वे उन निर्वासितों या साहसिक कार्य करनेवालोंके थे जो उस युगकी संस्कृतिहीन जातियोंके लिये भारतीय धर्म, स्थापत्य, कला, काव्य, विचार, जीवन तथा आचारनीतिको अपने संग ले गये। साम्राज्यके, यहांतक कि जगत्-साम्राज्यके विचारका भी भारतीय मनमें सर्वथा अभाव हो ऐसी बात नहीं थी, पर उसका जगत् था भारतीय जगत् तथा उसका उद्देश्य था इसकी जातियोंकी साम्राजीय एकताकी स्थापना।

यह विचार, इस आवश्यकताका बोध, इसकी पूर्तिके लिये सतत आवेग भारतीय इतिहासकी संपूर्ण परंपरामें स्पष्ट रूपसे दृष्टिगोचर होता है। ये विचार आदि प्राचीनतर वैदिक युगसे आरंभ हुए और रामायण तथा महाभारतकी परंपराओंद्वारा एवं मौर्य तथा गुप्त-वंशीय चक्रवर्ती सम्राटोंके प्रयत्नसे सूचित वीरतापूर्ण कालमेंसे होते हुए मुगल एकीकरण तथा पेशवाओंकी अंतिम महत्त्वाकांक्षातक बराबर बने रहे जबतक कि यह उद्देश्य अंतिम रूपसे असफल ही नहीं हो गया, तथा सभी संघर्षरत शक्तियां विदेशी जूएके नीचे एक ही स्तरपर नहीं पहुंच गयीं, अर्थात् एक स्वतंत्र जातिके स्वतंत्र ऐक्यके स्थानपर एकसमान परतंत्रताकी शिकार नहीं हो गयीं। तब प्रश्न यह है कि क्या एकीकरणकी प्रक्रियाकी मंदता, कठिनाई और अस्थिर गतिविधियोंका तथा सुदीर्घ प्रयत्नकी विफलताका कारण यह था कि भारतवासियोंकी सभ्यता या राजनीतिक चेतना एवं योग्यतामें किसी प्रकारकी मौलिक दुर्बलता थी अथवा इस सबके मूलमें कोई और ही शक्तियां काम कर रही थीं। भारतवासियोंकी एक होनेकी अयोग्यता तथा उनमें एकराष्ट्रीय देशभक्तिके अभावके संबंधमें––कहा जाता है कि देशभक्ति तो उनमें केवल अब ही, पश्चिमी संस्कृतिके प्रभावसे पैदा हो रही है––और धर्म तथा जातिके द्वारा उनपर थोपे गये भेदोंके बारेमें बहुत कुछ कहा और लिखा गया है। इन प्रतिकूल आलोचनाओंके बलको यदि इनकी पूर्ण मात्रामें स्वीकार कर लिया जाय,––इनमेंसे सभी न तो पूर्णतः सत्य हैं न ठीक रूपमें वर्णित की गयी हैं और न सभी इस विषयपर अपरिहार्य

रूपसे लागू ही हो सकती हैं,—तो भी ये केवल बाह्य लक्षण हैं और इनसे अधिक गहरे कारणोंकी खोज करना अभी बाकी ही है।

इनके प्रतिवादके लिये साधारणतः जो उत्तर दिया जाता है वह यह है कि भारत वस्तुतः एक महाद्वीप है जो लगभग यूरोप जितना ही बड़ा है और जिसमें बहुत अधिक जातियां निवास करती हैं और अतएव समस्याकी कठिनाइयां भी उतनी ही बड़ी या, कम-से-कम, संख्यामें लगभग उतनी ही अधिक रही हैं। और तब यूरोपकी एकताका विचार जो अभी-तक आदर्शके स्तरपर विद्यमान एक निष्प्रभाव कल्पना ही रह गया है और जिसे क्रियात्मक रूपमें सिद्ध करना आजतक असंभव ही रहा है, वह यदि पश्चिमी सभ्यताकी अक्षमताका या यूरोपीय जातियोंकी राजनीतिक अयोग्यताका प्रमाण नहीं है तो भारतीय जातियोंके इतिहासमें एकता या कम-से-कम एकीकरणके जिस अत्यधिक स्पष्ट आदर्शका, उसकी सिद्धिके लिये अन-वरत प्रयत्न करने तथा पुनः-पुनः उसके सफलताके निकट पहुंचनेका प्रमाण पाया जाता है उसपर मूल्योंकी भिन्न प्रणालीका प्रयोग करना न्यायसंगत नहीं है। इस तर्कमें कुछ बल अवश्य है, पर इसका स्वरूप पूर्णतः संगत नहीं है, क्योंकि भारत और यूरोपमें जो सादृश्य दिखलाया गया है वह बिलकुल ही पूर्ण नहीं है और दोनोंकी अवस्थाएं बिलकुल एक ढंगकी नहीं थीं। यूरोपकी जातियां ऐसी जातियां हैं जो अपने सामुदायिक व्यक्तित्वमें एक-दूसरीसे अत्यंत तीव्र रूपमें भिन्न हैं और ईसाई धर्ममें उनकी आध्यात्मिक एकता या यहांतक कि एक सर्व-सामान्य यूरोपीय सभ्यतामें उनकी सांस्कृतिक एकता, जो कभी भी उतनी वास्तविक और पूर्ण नहीं थी जितनी भारतकी प्राचीन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता थी, उनके जीवनका वास्तविक केंद्र भी नहीं थी, उनके अस्तित्वका आधार या दृढ़ भित्ति नहीं थी, उनकी आश्रय-भूमि नहीं थी, थी केवल उनकी सामान्य भाव-भंगिमा या पारिपार्श्विक वातावरण। उनके अस्तित्वका आधार राजनीतिक और आर्थिक जीवनमें निहित था जो प्रत्येक देशमें तीव्र रूपसे पृथक्-पृथक् था, और पाश्चात्य मनमें राजनीतिक चेतनाका जो प्राबल्य था ठीक उसीने यूरोपको विभक्त एवं सदा लड़ते रहनेवाले राष्ट्रोंका एक समूह बनाये रखा। आज संपूर्ण यूरोपमें राजनीतिक आंदोलनोंका पारस्परिक संपर्क बढ़ता जा रहा है और आर्थिक दृष्टिसे वह अब पूर्णरूपेण परस्पर-निर्भर बन गया है। इन दोनों बातोंने ही आखिर वहां किसी प्रकारकी एकताको तो नहीं पर एक उदीयमान एवं अभीतक निष्प्रभाव राष्ट्रसंघ (League of Nations) को जन्म दिया है[1] जो युगव्यापी पृथक्तावादसे उत्पन्न मनोवृत्तिको यूरोपीय जातियों-के सर्वसामान्य स्वार्थोंपर लागू करनेकी व्यर्थमें ही चेष्टा कर रहा है।' परंतु भारतमें अत्यंत

[1]स्मरण रहे कि यह लेखमाला प्रथम महायुद्धके पश्चात्, १५ दिसंबर सन् १९१८ से १५ जनवरी १९२१ के बीच, लिखी गयी थी जब राष्ट्रसंघ (League of Nations) का हालमें ही जन्म हुआ था।—अनुवादक

प्राचीन कालमें ही आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता पूर्णरूपेण स्थापित हो चुकी थी और हिमालय तथा दो (अरब और बंग) समुद्रोंके बीच अवस्थित इस समस्त महान् जन-पारावारके जीवनका वास्तविक उपादान ही बन गयी थी। प्राचीन भारतकी जातियां कभी भी ऐसी विभिन्न जातियां नहीं थीं जो एक पृथक् राजनीतिक एवं आर्थिक जीवनके द्वारा एक-दूसरीसे तीव्रतया विभक्त हों, वरंच इससे कहीं अधिक वे एक महान् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक राष्ट्रकी उपजातियां थीं—ऐसे राष्ट्रकी जो स्वतः ही, भौतिक रूपमें, समुद्रों और पर्वतोंके द्वारा अन्य देशोंसे दृढ़तया पृथक् था और भिन्न होनेकी अपनी तीव्र भावना तथा अपने विलक्षण, सार्वजनीन धर्म और संस्कृतिके द्वारा अन्य जातियोंसे भी दृढ़तया पृथक् था। अतएव, इसका क्षेत्रफल चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो और क्रियात्मक कठिनाइयां चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हों तो भी राजनीतिक एकताका निर्माण उससे अधिक सुगमताके साथ संपन्न हो जाना चाहिये था जितनी सुगमतासे कि यूरोपकी एकता संभवतः साधित हो सकती थी। इस विषयकी असफलताका कारण अधिक गहराईमें जाकर ढ़ंढ़ना होगा और हम देखेंगे कि इस समस्याको जिस रूपमें दृष्टिके सामने रखा गया या रखा जाना चाहिये था और ऐक्य-प्राप्तिके प्रयत्नको वस्तुतः जो मोड़ दिया गया उन दोनोंमें असंगति ही असफलताका कारण थी, और एकताके प्रयत्नको जो मोड़ दिया गया वह तो जातिकी विशिष्ट मनोवृत्तिका ही विरोधी था।

भारतीय मनका संपूर्ण आधार है इसका आध्यात्मिक एव अंतर्मुख झुकाव, आत्म-तत्त्व और अंतःसत्ताकी वस्तुओंको प्रथम और प्रधान रूपमें खोजने तथा अन्य सभी वस्तुओंको इस रूपमें देखनेकी इसकी प्रवृत्ति कि वे गौण एवं पराश्रित हैं, उच्चतर ज्ञानके प्रकाशमें ही व्यवहृत और निर्धारित करनेके योग्य हैं और गभीरतर आध्यात्मिक लक्ष्यकी एक अभिव्यक्ति हैं, उसका आरंभिक साधन या क्षेत्र या सहायक उपकरण अथवा कम-से-कम एक सहचारी तत्त्व हैं,—अतएव इसे जो कुछ निर्मित करना हो उसे पहले आंतरिक स्तरपर और बादमें ही उसके अन्य पहलुओंमें निर्मित करनेकी प्रवृत्ति। यह मनोवृत्ति और इसके परिणामस्वरूप अंदरसे बाहरकी ओर निर्माण करनेकी इस प्रवृत्तिको स्वीकार करते हुए, यह अनिवार्य ही था कि भारत सबसे पहले जिस ऐक्यको अपने लिये निर्मित करे वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ऐक्य ही हो। सर्वप्रथम, वह कोई ऐसा राजनीतिक एकीकरण नहीं हो सकता था जो एक विजयी राज्यके द्वारा या सैनिक एवं संघटनकारी जातिकी प्रतिभाके द्वारा एक केंद्रीभूत, आरोपित या निर्मित बाह्य शासनकी सहायतासे साधित किया गया हो जैसा कि रोम या प्राचीन फारसमें किया गया था। मेरे विचारमें यह उचित रूपमें नहीं कहा जा सकता कि यह भारतीय मनकी एक भूल थी अथवा यह उसकी अव्यावहारिक प्रवृत्तिका एक प्रमाण था और एक अखंड राजनीतिक संगठनका निर्माण पहले करना चाहिये था और बादमें भारतके राष्ट्रीय साम्राज्यके विशाल संगठनमें आध्यात्मिक एकता सुरक्षित रूपमें

विकसित हो सकती थी। आरंभमें जो समस्या उपस्थित थी वह यह थी कि एक विशाल भूभाग विद्यमान था जिसपर शताधिक राज्य, कुल, समाज, कबीले और जातियां निवास करती थीं, और जो इस बातमें एक दूसरा यूनान ही था, बल्कि यूनान भी एक बहुत बड़े पैमानेपर, लगभग आधुनिक यूरोप जितना ही विशाल। जिस प्रकार यूनानमें एकत्वकी मूल भावना उत्पन्न करनेके लिये सांस्कृतिक, यूनानी (Hellenic) एकता आवश्यक थी, उसी प्रकार यहां भी तथा उससे कहीं अधिक अनिवार्य रूपमें इन सब जातियोंकी एक सचेतन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता पहली और अपरिहार्य शर्त थी जिसके बिना कोई भी स्थायी एकता संभव नहीं हो सकती थी। इस विषयमें भारतीय मनकी और भारतके महान् ऋषियों तथा उसकी संस्कृतिके संस्थापकोंकी सहजप्रवृत्ति सर्वथा युक्तियुक्त थी। और चाहे हम यह मान भी लें कि प्राचीन भारतकी जातियोंमें सैनिक और राजनीतिक साधनोंके द्वारा रोमन जगत्की एकता जैसी बाह्य साम्राजीय एकता स्थापित की जा सकती थी तो भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि रोमन एकता स्थायी नहीं रही, यहांतक कि रोमन विजय और संगठनके द्वारा स्थापित प्राचीन इटलीकी एकता भी स्थायी नहीं रही, और यह संभव नहीं था कि पहलेसे आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक आधार स्थापित किये बिना भारतके विशाल क्षेत्रोंमें इस प्रकारका प्रयत्न स्थायी रूपमें सफल होता। भले ही यह दृढ़तापूर्वक कहा जाय कि आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकतापर अत्यंत अनन्य या अतिरंजित रूपमें बल दिया गया है और राजनीतिक एवं बाह्य एकतापर बहुत ही कम आग्रह किया गया है तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस तरह प्रधानता देनेका परिणाम केवल अनिष्टकारी ही हुआ है और इसका लाभ कुछ भी नहीं हुआ है। इस मौलिक विशिष्टता तथा इस अमिट आध्यात्मिक छापके कारण, समस्त विभिन्नताओंके बीच इस आधारभूत एकत्वके विद्यमान रहनेके कारण ही, भारत यद्यपि राजनीतिक दृष्टिसे अभी एक अखंड संघटित राष्ट्र नहीं है तो भी वह अभीतक जीवित है और अभीतक भारत ही है।

आखिरकार, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता ही एकमात्र स्थायी एकता है और एक स्थायी भौतिक शरीर तथा बाह्य संगठनकी अपेक्षा कहीं अधिक एक सुस्थिर मन और आत्माके द्वारा ही किसी जातिकी अंतरात्मा जीवित रहती है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे समझने या स्वीकार करनेके लिये पाश्चात्य मन अनिच्छुक हो सकता है और फिर भी इसके प्रमाण युगोंकी संपूर्ण कहानीके अंदर सर्वत्र लिखे पड़े हैं। भारतके समकालीन प्राचीन राष्ट्र और बहुतसे उसकी अपेक्षा अर्वाचीन राष्ट्र भी मर चुके हैं और केवल उनके स्मारक चिह्न ही उनके पीछे बच रहे हैं। यूनान और मिस्र केवल नक्शेपर और नामभरके लिये ही अस्तित्व रखते हैं, क्योंकि आज हम एथेन्स या काहिरामें जो चीज देखते हैं वह हेलस (Hellas) की अंतरात्मा, या मेम्फीज (Memphis)[1] का निर्माण करनेवाली गभीरतर राष्ट्रीय आत्मा

[1] मिस्रकी प्राचीन राजधानी।

नहीं है। रोमने भूमध्यसागरके आसपास रहनेवाली जातियोंपर राजनीतिक एवं निरी बाह्य सांस्कृतिक एकता थोपी थी, परंतु उनमें जीवंत आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता वह उत्पन्न नहीं कर सका, और इसलिये पूर्व पश्चिमसे अलग हो गया, अफ्रीकाने मध्यवर्ती संक्षिप्त रोमन कालकी कोई भी छाप बची नहीं रहने दी, और यहांतक कि पश्चिमी राष्ट्र जो अभी-तक लैटिन राष्ट्र कहलाते हैं बर्बर आक्रांताओंका कोई जीवंत प्रतिरोध नहीं कर सके और उन्हें आधुनिक इटली, स्पेन और फ्रांस बननेके लिये विदेशी जीवनी-शक्तिसे संचारित होकर पुनः जन्म लेना पड़ा। परंतु भारत अभीतक जीवित है और युगोंके भारतके साथ अपने आंतरिक मन, अंतरात्मा और आत्माके अविच्छिन्न संबंधको सुरक्षित रखे हुए है। उस-के वैदिक ऋषियोंने उसके लिये जो शरीर बनाया था उसमेंसे उसकी प्राचीन आत्माको निकाल बाहर करने या कुचल डालनेमें आक्रमण और विदेशी शासन, यूनानी, पार्थियन और हूण, इस्लामकी दुर्दांत शक्ति, स्टीम रोलर (Steam-roller) के जैसा ब्रिटिश आधिपत्य और ब्रिटिश राज्यप्रणालीका भारी-भरकम बोझ, पश्चिमका गुरुतर दबाव—ये सब असमर्थ हुए हैं। प्रत्येक पगपर, प्रत्येक संकट, आक्रमण और स्वेच्छाचारी शासनके समय, वह सक्रिय या निष्क्रिय प्रतिरोधके द्वारा मुकाबला करने और जीवित बचे रहनेमें समर्थ हुआ है। और यह कार्य वह अपने महान् दिनोंमें अपनी आध्यात्मिक एकसूत्रताके तथा आत्मसात्करण और प्रतिक्रियाकी शक्तिके द्वारा करनेमें समर्थ हुआ, जो कुछ भी आत्मसात् होने योग्य नहीं था उस सबको उसने बहिष्कृत कर डाला, जो कुछ बहिष्कृत नहीं किया जा सकता था उस सबको आत्मसात् कर लिया, और ह्रासका आरंभ होनेके बाद भी वह उसी शक्तिके द्वारा जीवित रह सका जो कम तो हो गयी थी पर नष्ट नहीं की जा सकी थी, उसने पीछे हटकर कुछ समयतक दक्षिणमें अपनी प्राचीन राजनीतिक प्रणालीको सुरक्षित रखा, इस्लामका दबाव पड़नेपर अपनी प्राचीन आत्मा और अपनी भावनाकी रक्षा करनेके लिये राजपूतों, सिक्खों और मराठोंको झट उत्पन्न कर दिया, जहां वह सक्रिय रूपमें प्रतिरोध नहीं कर सका वहां निष्क्रिय रूपमें डटा रहा, जो भी साम्राज्य उसकी पहेलीका समाधान नहीं कर सका या उस-के साथ समझौता नहीं कर सका उसे विध्वस्त हो जानेका दंड दे दिया, और बराबर अपने पुनरुज्जीवनके दिनकी प्रतीक्षा करता रहा। और आज भी हम अपनी आंखोंके सामने इसी प्रकारके दृश्यको घटित होते देख रहे हैं। और तब भला जो सभ्यता ऐसा चमत्कार कर सकी उसकी सर्वातिशयी जीवन-शक्तिके बारेमें हम क्या कहेंगे तथा उन लोगोंकी बुद्धि-मत्ताके बारेमें क्या कहेंगे जिन्होंने उसकी आधारशिला बाह्य वस्तुओंपर नहीं बल्कि आत्मा और आंतरिक मनपर स्थापित की और आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकताको भारतकी सत्ता-का केवल भंगुर कुसुम नहीं वरन् इसकी सत्ताका मूल और तना बनाया, ऊपरकी नश्वर रचना नहीं वरन् सनातन भित्ति बनाया ?

परंतु आध्यात्मिक एकता एक विशाल एवं नमनशील वस्तु है और वह राजनीतिक एवं

बाह्य एकताकी भांति केंद्रीकरण तथा एकरूपतापर आग्रह नहीं करती; वरंच वह राष्ट्रके संस्थानमें सर्वत्र व्याप्त हुई रहती है और जीवनकी अत्यधिक विविधता और स्वतंत्रताके लिये सहज ही अवकाश देती है। यहां हम प्राचीन भारतमें एकता स्थापित करनेकी समस्याकी कठिनाईके रहस्यका यत्किंचित् उल्लेख करेंगे। यह एक ऐसे केंद्रीभूत एकरूप साम्राजीय राज्यके साधारण साधनके द्वारा साधित नहीं की जा सकती थी जो स्वच्छंद विभिन्नता, स्थानीय स्वायत्त शासनों तथा सुप्रतिष्ठित सामुदायिक स्वाधीनताओंका समर्थन करनेवाली सभी वस्तुओंको कुचल डाले, और इस दिशामें जब-जब भी प्रयत्न किया गया तब-तब वह प्रतीयमान सफलताकी चाहे कितनी भी लंबी अवधिके बाद विफल ही हो गया, और हम यहांतक कह सकते हैं कि भारतकी भवितव्यताके रक्षकोंने बुद्धिमत्तापूर्वक ही उसे विफल होनेके लिये विवश किया ताकि इसकी आभ्यंतरिक आत्मा नष्ट न हो जाय और इसकी अंतरात्मा अस्थायी सुरक्षाके इंजनके बदलेमें अपने जीवनके गभीर स्रोतोंको न बेच डाले। भारतके प्राचीन मनको अपनी आवश्यकताका सहजज्ञान था; साम्राज्यके विषयमें उसका विचार यह था कि यह एक ऐसा एकीकारक शासन होना चाहिये जो प्रत्येक वर्तमान प्रादेशिक एवं सामाजिक स्वाधीनताका सम्मान करे तथा किसी भी जीवित स्वायत्त-शासनको अनावश्यक रूपसे कुचल न डाले और जो भारतका यांत्रिक एकत्व नहीं वरन् इसके जीवनका समन्वय साधित करे। आगे चलकर वे अवस्थाएं लुप्त हो गयीं जिनमें ऐसा समाधान सुरक्षित रूपसे विकसित होकर अपना सच्चा साधन, आकार और आधार प्राप्त कर सकता था, और इसके स्थानपर एक ही प्रशासनिक साम्राज्य स्थापित करनेका यत्न किया गया। वह प्रयास तात्कालिक और बाह्य आवश्यकताके दबावसे परिचालित हुआ तथा अपनी महानता और तेजस्विताके होते हुए भी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त कर सका। वह सफल हो भी नहीं सकता था क्योंकि उसने एक ऐसी दिशाका अनुसरण किया जो, अंततः, भारतीय भावनाके वास्तविक झुकावके साथ संगत नहीं थी। हम देख ही चुके हैं कि भारतीय राजनीतिक-सामाजिक प्रणालीका मूलभूत सिद्धांत था——सामुदायिक स्वायत्त-शासनों, अर्थात् ग्रामके, नगर और राजधानीके, जाति, निगम, कुल, धार्मिक समाज एवं प्रादेशिक इकाईके स्वायत्त शासनोंका समन्वय। राष्ट्र या राज्य या संघबद्ध गणराज्य इन स्वायत्त-शासनोंको एक सूत्रमें आबद्ध करके स्वतंत्र तथा जीवंत सुघटित प्रणालीमें समन्वित करनेका एक साधन था। सर्वप्रधान समस्या यह थी कि फिर इन राज्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें एकता लाते हुए पर इनके स्वायत्त-शासनका सम्मान करते हुए इन्हें एक विशालतर स्वतंत्र एवं जीवंत संस्थानके रूपमें कैसे समन्वित किया जाय। एक ऐसे शासनतंत्रको खोज निकालना आवश्यक था जो अपने सदस्योंमें शांति और एकताको बनाये रखे, बाह्य आक्रमणके विरुद्ध सुरक्षाकी सुनिश्चित व्यवस्था करे और, अपनी एकता तथा विविधतामें, अपनी सभी अंगभूत सामुदायिक एवं प्रादेशिक इकाइयोंके अप्रतिहत और सक्रिय जीवनमें, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृतिकी अंतरात्मा और

देहके, तथा बृहत् और पूर्ण परिमाणमें धर्मके क्रियान्वयनके उन्मुक्त विलास एवं विकासको एक सर्वांगीण रूप प्रदान करे।

भारतका प्राचीनतर मन प्रस्तुत समस्याका यही अर्थ समझता था। परवर्ती युगके प्रशासनिक साम्राज्यने इसे केवल आंशिक रूपमें ही स्वीकार किया, परंतु उसकी प्रवृत्ति, जैसी कि केंद्रीकारक प्रवृत्ति सदा ही हुआ करती है, यह थी कि अधीनस्थ स्वायत्त-शासनोंकी शक्तिको यदि सक्रिय रूपमें नष्ट न भी किया जाय तो भी, अत्यंत धीमे-धीमे और अवचेतन-से रूपमें, उसे क्षीण और जर्जर तो कर ही दिया जाय। परिणाम यह हुआ कि जब कभी केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई, प्रादेशिक स्वायत्त-शासनके सुदृढ़ सिद्धांतने जो भारतके जीवनके लिये अत्यावश्यक था, सुस्थापित कृत्रिम एकताको हानि पहुंचाकर फिरसे अपना अधिकार जमा लिया, पर, उसने, जैसा कि उसे करना चाहिये था, इस बातके लिये यत्न नहीं किया कि संपूर्ण जीवन सुसमंजस रूपमें सबल हो जाय तथा अधिक स्वतंत्रतापूर्वक पर फिर भी संयुक्त होकर कार्य करता रहे। चक्रवर्ती राज्यकी प्रवृत्ति भी स्वतंत्र व्यवस्थापिका-सभाओंकी शक्तिको जर्जरित करनेकी ओर ही थी, और इसका परिणाम यह हुआ कि सामुदायिक इका-इयां संयुक्त बलके अंग होनेके बदले पृथग्भूत और विभाजक तत्त्व बन गयीं। ग्राम-समाजने अपनी शक्तिको कुछ-कुछ सुरक्षित रखा, परंतु सर्वोच्च शासन-सत्ताके साथ उसका कोई जीवंत संबंध नहीं रहा और, विशालतर राष्ट्रीय भावनाको खोकर वह किसी भी स्वदेशी या विदेशी शासनको जो उसके अपने आत्म-निर्भर संकीर्ण जीवनका सम्मान करता हो, स्वीकार करनेको उद्यत रहता था। धार्मिक समाज भी इसी भावनाके रंगमें रंग गये। जातियां किसी वास्तविक आवश्यकताके बिना किंवा देशकी आध्यात्मिक या आर्थिक आवश्यकताके साथ कोई सच्चा संबंध रखे बिना योंही बढ़ती चली गयीं और केवल अलंघ्य एवं रूढ़ विभाजन बन गयीं; अब वे, जैसी कि वे मूल रूपमें थीं, समग्र जीवन-समन्वयके सुसमंजस कार्य-निर्वाहके साधन न रहकर एक पृथक् करनेवाली शक्ति बन गयीं। यह बात सत्य नहीं है कि प्राचीन भारतमें जाति-भेद लोगोंके संयुक्त जीवनमें बाधक थे या वे पीछेके समयमें भी राजनीतिक कलह और फूट पैदा करनेवाली एक सक्रिय शक्ति थे,––निःसंदेह, अंतमें जाकर, चरम अव-नतिके समय, और विशेषकर मराठा राज्यसंघके परवर्ती इतिहासके समय वे ऐसे ही हो गये; परंतु वे सामाजिक विभाजन और गतिहीन उपविभागवादकी एक ऐसी निष्क्रिय शक्ति अवश्य बन गये जो सक्रिय रूपसे संयुक्त स्वतंत्र जीवनके पुनर्निर्माणमें बाधा डालती थी।

जाति-प्रथाके साथ जो-जो भी बुराइयां जुड़ी हुई थीं वे सबकी सब मुस्लिम आक्रमणोंसे पहले किसी प्रबल रूपमें प्रकट नहीं हुई थीं, परंतु अपने आरंभिक रूपमें वे अवश्य पहलेसे ही विद्यमान रही होंगी और पठान तथा मुगल साम्राज्योंद्वारा उत्पन्न अवस्थाओंमें वे तेजीसे बढ़ गयीं। ये बादकी साम्राज्य-प्रणालियां चाहे कितनी ही भव्य और शक्तिशाली क्यों न हों, अपने तानाशाही स्वरूपके कारण केंद्रीकरणकी बुराइयोंकी अपनेसे पहलेकी राज्यप्रणालियोंकी

अपेक्षा भी अधिक शिकार रहीं और भारतके प्रादेशिक जीवनकी कृत्रिम एकात्मक शासन (Unitarian regime) के विरुद्ध अपना प्रभुत्व स्थापित करनेकी उसी प्रवृत्तिके कारण निरंतर छिन्न-भिन्न होती रहीं, जब कि जनताके जीवनके साथ कोई सच्चा, जीवंत और स्वतंत्र संबंध न होनेके कारण ये उस सार्वजनीन देशभक्तिको उत्पन्न करनेमें असमर्थ सिद्ध हुईं जो इन्हें विदेशी आक्रांताके विरुद्ध सफल रूपमें सुरक्षित रखती। और इन सबके अंतमें आया है एक यांत्रिक पश्चिमी शासन जिसने अबतक विद्यमान सभी सामुदायिक या प्रादेशिक स्वायत्त-शासनोंको कुचल डाला है और उनके स्थानपर मशीनकी निर्जीव एकता स्थापित कर दी है। परंतु फिर इसके विरुद्ध एक प्रतिक्रियाके रूपमें हम उन्हीं प्राचीन प्रवृत्तियोंको पुनरुज्जीवित होते देख रहे हैं, वे हैं––भारतीय जातियोंके प्रादेशिक जीवनके पुनर्निर्माणकी प्रवृत्ति, जाति और भाषाके सच्चे उपविभाजनोंपर आधारित प्रांतीय स्वायत्त-शासनकी मांग, विलुप्त ग्राम-समाजको राष्ट्र-शरीरके स्वाभाविक जीवनके लिये आवश्यक एक सजीव इकाई मानते हुए इसके आदर्शकी ओर भारतीय मनका प्रत्यावर्तन, और भारतीय जीवनके लिये उपयुक्त सामुदायिक आधारके विषयमें एक अधिक ठीक विचार जो अभीतक पुनः प्रादुर्भूत तो नहीं हुआ पर अधिक उन्नत मनवाले लोगोंको अस्पष्ट रूपमें अपनी झलक दिखाना आरंभ कर रहा है, तथा एक आध्यात्मिक आधारपर भारतीय समाज और राजनीतिका पुनर्नवीकरण और पुनर्निर्माण।

अतएव, भारतकी एकता साधित करनेमें जो असफलता प्राप्त हुई, जिसके परिणामस्वरूप पहले तो इसपर आक्रमण होते रहे और अंतमें इसे विदेशी शासनके अधीन होना पड़ा, उसका कारण यह था कि यह कार्य अत्यंत विस्तृत और साथ ही निराले ढंगका था, क्योंकि केंद्रीभूत साम्राज्यकी सुगम प्रणाली भारतमें सच्चे अर्थमें सफल नहीं हो सकी, जब कि फिर भी यही एकमात्र संभव उपाय प्रतीत होती थी और इसका पुनः-पुनः प्रयोग किया गया तथा उसमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई जिससे उस समय एवं दीर्घ कालतक ऐसा जान पड़ा कि यह एक समुचित उपाय है, पर अंतमें सदा असफलता ही हाथ लगी। इस बातकी ओर मैं संकेत कर ही चुका हूं कि भारतका प्राचीन मन इस समस्याके वास्तविक स्वरूपको अधिक अच्छी तरह समझता था। वैदिक ऋषियों और उनके उत्तराधिकारियोंने अपना प्रधान कार्य यही बनाया था कि भारतीय जीवनका आध्यात्मिक आधार स्थापित किया जाय और इस प्रायद्वीपकी अनेकानेक जातियोंको आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकताके सूत्रमें पिरोया जाय। परंतु राजनीतिक एकीकरणकी आवश्यकताकी ओरसे उन्होंने आंखें नहीं मूंद रखी थीं। उन्होंने आर्य जातियोंके कुल-जीवनकी विभिन्न आकारोंवाले राज्यसंघों तथा राज्यमंडलोंके, वैराज्य और साम्राज्यके अधीन संगठित होनेकी अटल प्रवृत्तिका निरीक्षण किया और देखा कि इस धाराका इसके पूर्ण परिणामतक अनुसरण करना ही ठीक मार्ग है और अतएव उन्होंने चक्रवर्ती राजाके, अर्थात् एक ऐसे एकीकारक साम्राजीय शासनके आदर्शका विकास किया जो एक

समुद्रसे दूसरे समुद्रतकके भारतके अनेक राज्यों और जातियोंके स्वायत्त-शासनको ध्वस्त किये बिना उन्हें एक कर दे। इस आदर्शको उन्होंने, भारतीय जीवनकी अन्य प्रत्येक वस्तुकी भांति, आध्यात्मिक एवं धार्मिक स्वीकृतिके द्वारा समर्थित किया, इसके बाह्य प्रतीकके रूपमें अश्वमेध और राजसूय यज्ञोंका आदर्श स्थापित किया और यह निश्चित कर दिया कि शक्तिशाली राजाका धर्म किंवा उसका राजोचित और धार्मिक कर्तव्य यह है कि वह इस आदर्शकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करे। धर्म उसे इस बातकी अनुमति नहीं देता था कि वह अपने शासनके अधीन होनेवाली जातियोंकी स्वतंत्रताका अपहरण करे अथवा उनके राजवंशोंको सिंहासनसे च्युत या विनष्ट कर दे या उनके शासकोंके स्थानपर अपने पदाधिकारियों एवं शासकोंको आसीन कर दे। उसका कर्तव्य एक ऐसी सर्वोपरि सत्ताकी स्थापना करना था जो इतनी काफी सैनिक शक्तिसे युक्त हो कि आंतरिक शांतिकी रक्षा कर सके और आवश्यकता पड़नेपर देशकी संपूर्ण सैन्य-शक्तियोंको समवेत कर सके। और इस प्राथमिक कर्तव्यमें पीछेसे यह आदर्श भी जोड़ दिया गया कि एक शक्तिशाली ऐक्यसाधक सत्ताके अधीन भारतीय धर्मका पूर्णतया पालन कराया जाय तथा उसकी रक्षा की जाय और भारतकी आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक संस्कृति अपना कार्य यथावत् करती रहे।

इस आदर्शका पूर्ण विकास हमारे उत्कृष्ट महाकाव्योंमें दृष्टिगोचर होता है। महाभारत ऐसे साम्राज्य अर्थात् धर्मराज्यकी स्थापनाके काल्पनिक या, संभवतः, ऐतिहासिक प्रयत्नका लेखा है। वहां इस आदर्शको ऐसे अलंघ्य एवं सर्वमान्य रूपमें चित्रित किया गया है कि उद्दंड शिशुपालको भी इस आधारपर कि युधिष्ठिर एक धर्म-निर्दिष्ट कार्य कर रहे हैं, उनके राजसूय यज्ञमें निज प्रेरणासे भाग लेते और अधीनता स्वीकार करते दिखाया गया है। और रामायणमें हमें ऐसे धर्मराज्य, सुप्रतिष्ठित विश्वसाम्राज्यका एक आदर्शात्मक चित्र मिलता है। यहां भी जिस राज्यप्रणालीको आदर्शके रूपमें प्रस्थापित किया गया है वह कोई तानाशाही निरंकुश शासन नहीं बल्कि एक ऐसा सार्वभौमिक राजतंत्र है जिसे नगरों और प्रांतोंकी तथा सभी वर्गोंकी स्वतंत्र व्यवस्थापिका-सभाका समर्थन प्राप्त है, अर्थात् वह राजतंत्रात्मक राज्यका ही एक विस्तार है जो भारतीय राज्यप्रणालीके सामुदायिक स्वायत्त-शासनोंको समन्वित करता और धर्मके नियम एवं संविधानकी रक्षा करता है। विजयके जिस आदर्शकी यहां स्थापना की गयी है वह कोई ऐसा विनाशकारी एवं लूट-पाट करनेवाला आक्रमण नहीं है जो विजित जातियोंकी मौलिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओंको विनष्ट कर दे तथा उनकी आमदनीके साधनोंका शोषण कर डाले, बल्कि यह तो एक प्रकारकी यज्ञीय प्रगति है जिसमें सैनिक शक्तिकी परीक्षा की जाती थी और उस परीक्षाका परिणाम आसानीसे स्वीकार कर लिया जाता था क्योंकि पराजयके कारण न तो अपमान भोगना पड़ता था और न दासता एवं कष्ट, बल्कि केवल, पराजितको सर्वोपरि सत्ताके साथ संयुक्त होना पड़ता था जिससे उसकी शक्तिमें वृद्धि ही होती थी और उस सर्वोपरि सत्ताका उद्देश्य केवल राष्ट्र और

धर्मकी प्रत्यक्ष एकता स्थापित करना ही होता था। प्राचीन ऋषियोंका आदर्श स्पष्ट ही है, तथा भारतभूमिकी विभक्त और परस्पर लड़ती हुई जातियोंको एकतामें बांधनेकी राजनीतिक उपयोगिता और आवश्यकता उन्होंने स्पष्ट रूपसे अनुभव कर ली थी, पर उन्होंने यह भी देख लिया था कि इसकी प्राप्ति प्रादेशिक जातियोंके स्वतंत्र जीवनकी या सामुदायिक स्वाधीनताकी बलि देकर नहीं करनी चाहिये और अतएव केंद्रीभूत राजतंत्र या कठोरतः-एकात्मक साम्राजीय राज्यके द्वारा नहीं करनी चाहिये। वे जनताके मनपर जिस कल्पनाको दृढ़तया अंकित करना चाहते थे उसे (मिलते-जुलते, निकटतम) पाश्चात्य शब्दोंमें प्रकट करना चाहें तो कह सकते हैं कि वह एक सम्राट्के छत्रके अधीन एक सर्वोपरि प्रभुत्व या एक राज्यसंघकी कल्पना थी।

इस बातका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है कि यह आदर्श कभी सफलतापूर्वक चरितार्थ किया गया था, यद्यपि महाकाव्यकी परंपरा युधिष्ठिरके धर्मराज्यसे पहलेके ऐसे कई साम्राज्योंकी चर्चा करती है। बुद्धके समय और बादमें जब चंद्रगुप्त और चाणक्य प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्यका निर्माण कर रहे थे, भारतवर्षमें अभी स्वतंत्र राज्य तथा गणराज्य छाये हुए थे और सिकंदरके महान् आक्रमणका सामना करनेके लिये कोई भी एकीभूत साम्राज्य विद्यमान नहीं था। यह स्पष्ट ही है कि यदि कोई सर्वोपरि सत्ता पहलेसे विद्यमान थी, तो वह दृढ़ रूपसे स्थायी रहनेवाले किसी साधन या प्रणालीको ढूंढ़ निकालनेमें असफल ही रही थी। तथापि यदि इसके लिये समय मिलता तो संभवतः यह विकसित हो सकती, पर इस बीच देशकी स्थितिमें एक गुरुतर परिवर्तन आ गया जिसका अविलंब समाधान ढूंढ़ना अत्यंत अनिवार्य हो उठा। भारतीय प्रायद्वीपकी ऐतिहासिक दुर्बलता आधुनिक कालतक सर्वदा यही रही है कि उत्तर-पश्चिमी दर्रोंके द्वारा इसपर आक्रमण करना संभव रहा है। जबतक प्राचीन भारत उत्तरकी ओर सिंधु नदीके परे दूर-दूरतक फैला हुआ था और गांधार तथा वाह्लीक देशोंके शक्तिशाली राज्य विदेशी आक्रमणके विरुद्ध एक मजबूत किलेबंदीका काम करते थे तबतक इस दुर्बलताका नाम-निशान नहीं था। परंतु वे राज्य अब फारसके संगठित साम्राज्यके आगे ध्वस्त हो चुके थे और तबसे लेकर सिंधु-पारके देश भारतका भाग न रहनेके कारण उसके रक्षक भी नहीं रहे और इसके बजाय एकके बाद एक आनेवाले सभी आक्रांताओंके लिये सुरक्षित सैनिक-केंद्र बन गये। सिकंदरके आक्रमणने भारतके राजनीतिक मनीषियोंको संकटकी विशालता पूर्ण रूपसे अनुभव करा दी और हम देखते हैं कि उस समयसे यहांके कवि, लेखक और राजनीतिक विचारक बराबर ही चक्रवर्ती राज्यके आदर्शको उद्घोषित करने लगे अथवा इसे चरितार्थ करनेके उपाय सोचने लगे। इसके क्रियात्मक परिणामके रूपमें तुरंत ही एक साम्राज्यका उदय हुआ जिसे चाणक्यने अपनी राजनीतिज्ञताके द्वारा अद्भुत शीघ्रताके साथ स्थापित किया और जिसे, दुर्बलता तथा आरंभिक विघटनके कालोंके आनेपर भी, क्रमशः मौर्य, सुंग, कण्व, आंध्र और गुप्त राजवंशोंने आठ-नौ सदियोंतक

निरंतर कायम रखा या पुनः-पुनः प्रतिष्ठापित किया। इस साम्राज्यका इतिहास, इसका आश्चर्यजनक संगठन, प्रशासन और सार्वजनिक निर्माण-कार्य, इसकी समृद्धता और प्रतापशाली संस्कृति तथा इसकी छत्रछायामें भारत-प्रायद्वीपके जीवनकी शक्तिशालिता, तेजस्विता एवं भव्य उर्वरता इधर-उधर बिखरे-पड़े अपर्याप्त अभिलेखोंसे ही प्रकट होती है, किंतु यह उन महान्से महान् साम्राज्योंकी श्रेणीमें आता है जिनकी रचना और रक्षा संसारकी महान् जातियोंकी प्रतिभाने की है। इस दृष्टिकोणसे ऐसा कोई कारण नहीं कि भारत साम्राज्य-निर्माणके क्षेत्रमें अपनी प्राचीन सफलतापर गर्व न अनुभव करे अथवा उस उतावले निर्णयके आगे शीश नवावे जो उसकी पुरातन सभ्यतामें सशक्त व्यावहारिक प्रतिभा या उच्च राजनीतिक गुणके अस्तित्वसे इन्कार करता है।

तथापि एक अपरिहार्य आवश्यकताकी पूर्तिके लिये की गयी इस साम्राज्यकी प्रथम रचनामें जिस अनिवार्य उतावली, जोर-जबर्दस्ती एवं कृत्रिमतासे काम लिया गया उसके कारण इसे बहुत क्षति पहुंची, क्योंकि उसने इसे प्राचीन ठोस भारतीय शैलीके अनुसार भारतके गभीरतम आदर्शके सत्यके एक सुचिंतित, स्वाभाविक एवं सुस्थिर विकासके रूपमें नहीं पनपने दिया। केंद्रित साम्राजीय राजतंत्रको स्थापित करनेका प्रयत्न अपने साथ प्रादेशिक स्वायत्त-शासनोंके स्वतंत्र समन्वयको न लाकर उनके विध्वंसका कारण बना। यद्यपि भारतीय सिद्धांतके अनुसार उनकी संस्थाओं और प्रथाओंका सम्मान किया गया और प्रारंभमें उनकी राजनीतिक संस्थाओंको भी, कम-से-कम अनेक प्रदेशोंमें, पूर्णतः नष्ट नहीं किया गया, वरन् केवल साम्राजीय प्रणालीके अंदर सम्मिलित ही किया गया, तथापि साम्राज्यके केंद्रीकरणकी छायाके तले ये वास्तविक रूपमें फल-फूल नहीं सकीं। प्राचीन भारतीय जगत्के स्वतंत्र जन-समुदाय लुप्त होने लगे, उनके टूटे-फूटे उपादानोंने बादमें जाकर वर्तमान भारतीय जातियोंकी सृष्टि करनेमें सहायता की। और मेरे विचारमें मोटे तौरपर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यद्यपि महान् जन-सभाएं दीर्घकालतक शक्तिशाली बनी रहीं, फिर भी अंतमें उनका कार्य अधिक यांत्रिक बनता चला गया और उनकी जीवनी-शक्ति क्षति और अवनतिको प्राप्त होने लगी। पौर गणराज्य भी, अधिकाधिक, संगठित राज्य या साम्राज्यकी नगरपालिकाएं मात्र बनते चले गये। साम्राज्यके केंद्रीकरणसे उत्पन्न मानसिक अभ्यासोंने और अतीतकी अधिक गौरवपूर्ण स्वतंत्र लोक-संस्थाओंकी दुर्बलता या उनके विलोपने एक प्रकारकी आध्यात्मिक खाई पैदा कर दी। उस खाईके एक ओर तो थे शासित जन जो किसी भी ऐसी सरकारसे संतुष्ट थे जो उन्हें सुरक्षा प्रदान करे तथा उनके धर्म, जीवन और रीति-रिवाजोंमें अत्यधिक हस्तक्षेप न करे और उसके दूसरी ओर था साम्राजीय प्रशासन जो कल्याणकारी और भव्य तो अवश्य था, पर अब पहलेकी तरह, एक स्वतंत्र एवं जीवित-जागृत जातिका वह जीवंत शीर्ष-संगठन नहीं रहा था जिसकी परिकल्पना भारतके प्राचीनतर एवं वास्तविक राजनीतिक मनने की थी। ये परिणाम सुस्पष्ट और

सुनिश्चित रूपमें तो तभी सामने आये जब कि ह्रास आरंभ हुआ, पर बीज-रूपमें ये वहां पहलेसे ही विद्यमान थे और एकीकरणकी यांत्रिक पद्धतिका अवलंबन करनेसे ये लगभग अनिवार्य ही हो उठे थे। इससे जो लाभ प्राप्त हुए वे थे एक अधिक प्रबल एवं सुसंघटित सैनिक कार्रवाई तथा एक अधिक व्यवस्थाबद्ध एवं एकरूप प्रशासन, पर भारतवासियोंके मन और स्वभावको सच्चे रूपमें अभिव्यक्त करनेवाले स्वतंत्र एवं सुघटित वैविध्ययुक्त जीवनको इससे जो क्षति पहुंची उसे ये लाभ अंततः पूरा नहीं सके।

एक और, इनसे भी बुरा परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रका मानस धर्मके उच्च आदर्शसे कुछ अंशमें पतित हो गया। प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये एक राज्यका दूसरे राज्यके साथ जो संघर्ष हुआ उसमें माकियावेली-के-से (Machiavellian) राजकौशलके अभ्यासने भूतकालके श्रेष्ठतर नैतिक आदर्शोंका स्थान ले लिया, आक्रमणात्मक महत्त्वाकांक्षाको किसी पर्याप्त आध्यात्मिक या नैतिक नियंत्रणके बिना खुला छोड़ दिया गया और राजनीति एवं शासनकी नैतिकताके विषयमें राष्ट्रका मानस स्थूल बन गया जिसका प्रमाण मौर्य कालके निष्ठुर दंडविधानमें और अशोककी रक्तपातपूर्ण उड़ीसा-विजयमें पहले ही मिल चुका था। परंतु एक धार्मिक भावना और उच्च बुद्धिके कारण इस साम्राज्यका ह्रास रुका रहा और इसके बाद हजार सालसे भी अधिक लंबे समयतक वह (ह्रास) अपनी पराकाष्ठाको नहीं पहुंच सका। हां, अधःपतनके निकृष्टतम कालमें ही हम उसे पूरे जोरोंपर देखते हैं जब कि अनियंत्रित पारस्परिक आक्रमण, राजाओं और सरदारोंके उद्दाम अहंकार तथा शक्तिशाली ऐक्यकी प्राप्तिके लिये किसी राजनीतिक सिद्धांत एवं सामर्थ्यके पूर्ण अभावने, सार्वजनीन देशभक्तिके अभावने और शासकोंके परिवर्तनके प्रति जनसाधारणकी परंपरागत उपेक्षावृत्तिने इस सारे विशाल प्रायद्वीपको समुद्र-पारसे आनेवाले मुट्ठीभर सौदागरोंके हाथमें सौंप दिया। परंतु इन बुरे-से-बुरे परिणामोंके आनेमें चाहे कितनी ही देर क्यों न लगी हो और साम्राज्यकी राजनीतिक महानता तथा भव्य बौद्धिक एवं कलात्मक संस्कृतिके कारण एवं पुनः-पुनः होनेवाले आध्यात्मिक जागरणोंके कारण आरंभमें इनका कितना ही प्रतिकार एवं अवरोध क्यों न किया गया हो फिर भी पीछेके गुप्तवंशीय राजाओंके समयतक भारत अपनी जातियोंके राजनीतिक जीवनमें अपनी सच्ची मानसिकता एवं अंतरतम भावनाके स्वाभाविक एवं पूर्ण विकासकी संभावनाको खो चुका था।

इस बीच इस साम्राज्यने उस उद्देश्यको जिसके लिये इसका निर्माण हुआ था, पूर्ण रूपसे तो नहीं पर काफी अच्छी तरहसे पूरा किया, अर्थात् इसने भारतभूमि और भारतीय सभ्यताको बर्बरोंकी हलचलकी उस बड़ी भारी बाढ़से बचाया जिसने सभी प्राचीन सुस्थिर संस्कृतियोंको आतंकित कर दिया था और जो अंतमें इतनी बलवत्तर सिद्ध हुई कि समुन्नत यूनानी-रोमन सभ्यता एवं विशाल और शक्तिशाली रोमन साम्राज्य उसके आगे नहीं टिक सका। वह हलचल टयूटनों, स्लावों, हूणों और शकों (Seythians) को बड़ी भारी

संख्यामें पश्चिम, पूर्व तथा दक्षिणकी ओर फेंकती हुई अनेक सदियोंतक भारतके द्वारोंपर प्रबल प्रहार करती रही, कई बार एकाएक आक्रमण भी हुए, पर जब वह हलचल शांत हुई तो भारतीय सभ्यताका विशाल प्रासाद ज्यों-का-त्यों खड़ा था और वह तबतक भी दृढ़, महान् तथा सुरक्षित बना रहा। जब कभी यह साम्राज्य दुर्बल हुआ, तभी आक्रमण हुए और ऐसा प्रतीत होता है कि जब कभी देश कुछ समयके लिये (आक्रमणोंसे) सुरक्षित रहा तभी ऐसी (दुर्बलताकी) अवस्था भी उत्पन्न हो गयी। जिस आवश्यकताने साम्राज्यको जन्म दिया था उसकी पूर्ति न होनेपर साम्राज्य कमजोर पड़ जाता था, क्योंकि तब प्रादेशिक भावना पृथक्त्ववादी आंदोलनोंके रूपमें फिरसे जाग उठती थी और वे आंदोलन साम्राज्यके ऐक्यको छिन्न-भिन्न कर देते अथवा संपूर्ण उत्तरमें इसके बृहत् विस्तारको नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे। कोई नया संकट एक नये राजवंशके अधीन इसकी शक्तिको पुनरुज्जीवित कर देता था, परंतु यह घटना अपने-आपको बारंबार दुहराती रही, जब कि अंतमें संकटके बहुत समयके लिये दूर हो जानेपर, उसका सामना करनेके लिये निर्मित साम्राज्य नष्ट हो गया, यहांतक कि फिर जीवित ही न हो सका। यह अपने पीछे पूर्व, दक्षिण और केंद्रमें कुछेक महान् साम्राज्य छोड़ गया और साथ ही उत्तर-पश्चिममें बहुत अधिक अव्यवस्थित जातियोंका एक समूह छोड़ गया। यह उत्तर-पश्चिमी प्रदेश एक छिद्र-स्थल था जहांसे मुसलमान बलपूर्वक घुस आये और थोड़े ही समयमें उन्होंने उत्तरमें फिरसे प्राचीन, पर एक अन्य, अर्थात् मध्य-एशियाई ढंगके साम्राज्यका निर्माण कर लिया।

इन अधिक प्राचीन विदेशी आक्रमणों तथा इनके परिणामोंको इनके वास्तविक आकार-प्रकारमें देखना होगा, जो प्राच्य विद्वानोंके अतिरंजित सिद्धांतोंके द्वारा प्रायः ही विकृत कर दिया जाता है। सिकंदरका आक्रमण यूनानी जातिका पूर्वकी ओर बढ़नेका आवेग था। उसके लिये पश्चिमी और मध्य एशियामें तो कुछ कार्य करनेको था पर भारतमें उसका अपना कोई भविष्य नहीं था। चंद्रगुप्तके द्वारा तुरंत उखाड़ फेंके जानेके बाद उसका नाम-निशानतक नहीं रहा। बादके मौर्यवंशी राजाओंकी दुर्बलताके समय यूनानी-मध्य-एशियाई लोगों (Graeco-Bactrians) ने जो आक्रमण किया और जिसे पुनः उठते हुए भारतीय साम्राज्यकी शक्तिने निष्फल कर दिया, वह एक यूनानी-भावापन्न जातिका आक्रमण था जो पहलेसे ही भारतीय संस्कृतिके द्वारा गहरे रूपमें प्रभावित हो चुकी थी। पीछेके पार्थियन, हूण और शक जातियोंके आक्रमण अधिक भयानक प्रकारके थे और कुछ समयतक तो वे भारतकी अखंडताके लिये संकटपूर्ण ही प्रतीत हुए। तथापि अंतमें उन्होंने केवल पंजाबको ही प्रबल रूपसे प्रभावित किया, यद्यपि उन्होंने पश्चिमी तटकी ओर बहुत दूर दक्षिणतक भी अपनी लहरें फेंकीं और दक्षिणकी ओर बहुत नीचेतक कुछ समयके लिये विदेशी जातिके राज-वंश प्रतिष्ठित हो गये होंगे। इन भागोंके जातीय स्वभावपर कहांतक प्रभाव पड़ा इस विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पूर्वीय विद्वानों एवं जाति-तत्त्ववेत्ताओं-

ने कल्पना की है कि पंजाब शक-जातिमें ही परिणत हो गया था, राजपूत उसी शक-वंशके हैं और बहुत दूर दक्षिणतक भी भारतीय रक्तमें इस आक्रमणके कारण परिवर्तन आया था। इन कल्पनाओंके आधारमें प्रमाण बहुत ही कम हैं अथवा हैं ही नहीं तथा अन्य सिद्धांतोंके द्वारा भी ये खंडित हो जाती हैं, और यह अत्यंत संदेहपूर्ण है कि बर्बर आक्रांता इतनी बड़ी संख्या-में आ सके हों जिससे कि इतना बड़ा परिणाम उत्पन्न हो जाय। और फिर यह बात इस तथ्यके द्वारा भी असंभवनीय सिद्ध हो जाती है कि एक या दो या तीन पीढ़ियोंमें आक्रांता पूर्ण रूपसे भारतीय बन गये, उन्होंने भारतीय धर्म, आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज एवं संस्कृति-को पूर्ण रूपसे ग्रहण कर लिया और भारतीय जन-समुदायमें घुल-मिल गये। रोमन साम्राज्यके देशोंकी भांति इस देशमें ऐसी कोई भी घटना नहीं हुई कि बर्बर जातियोंने एक उत्कृष्टतर सभ्यतापर अपने नियम, अपनी राजनीतिक प्रणाली, अपने बर्बर रीति-रिवाज एवं विदेशी शासन थोप दिये हों। इन आक्रमणोंका यह एक सर्व-सामान्य महत्त्वपूर्ण तथ्य है और इसका कारण इन तीनमेंसे कोई एक या तीनों रहे होंगे। संभव है कि आक्रामक लोग जातियां न होकर फौजें हों: उनका आधिपत्य कोई ऐसा स्थायी बाह्य शासन नहीं था जिसे अपने विदेशी रूपमें दृढ़ होनेका अवसर मिले, क्योंकि प्रत्येक आक्रमणके बाद भारतीय साम्राज्यकी शक्तिने पुनः जीवित होकर विजित प्रांतोंको फिरसे स्वायत्त कर लिया: और अंतमें, भारतीय संस्कृतिका प्रबलतया प्राणवंत एवं सात्म्यकारी स्वरूप इतना शक्तिशाली था कि आक्रमण-कारियोंमें आत्मसात्करणके प्रति किसी मानसिक प्रतिरोधके रहनेके लिये अनुमति या अव-काश नहीं दे सकता था। कुछ भी हो, यदि ये आक्रमण अपने रूप-स्वरूपमें बहुत ही बड़े थे तो यह मानना होगा कि भारतीय सभ्यताने अपने-आपको उस अपेक्षाकृत नयी यूनानी-रोमन सभ्यतासे अत्यधिक सबल, जीवंत और ठोस प्रमाणित किया जो ट्यूटनों और अरबोंके आगे अभिभूत हो गयी अथवा उनके अधीन होकर एवं एक ऐसे हीन रूपमें ही जीवित रही जो अत्यधिक बर्बर और जीर्ण-शीर्ण हो गया था तथा पहचाना भी नहीं जा सकता था। और यह भी घोषित करना होगा कि आखिर भारतीय साम्राज्य अपनी दृढ़ता और महानताके समस्त गर्वसे युक्त रोमन साम्राज्यकी अपेक्षा अधिक क्षमताशाली सिद्ध हुआ है, क्योंकि पश्चिममें क्षत-विक्षत होनेपर भी वह इस प्रायद्वीपके बहुत बड़े भागको सुरक्षित बनाये रखनेमें सफल हुआ।

वास्तवमें आगे चलकर जो पतन हुआ, मुसलमानोंकी जो विजय हुई जो पहले तो अरबोंके हाथों असफल हो चुकी थी पर बहुत लंबी अवधिके बाद जिसकी फिरसे चेष्टा की गयी और जो सफल भी हुई, और उसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ वह सब भारतीय जातियों-की क्षमतापर किये गये संदेहोंको उचित ठहराता है। पर यहां सबसे पहले हम उन कति-पय मिथ्या धारणाओंको दूर कर दें जो वास्तविक प्रश्नको आच्छादित कर देती हैं। यह विजय उस समय संपन्न हुई जब प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृतिकी जीवनी-शक्ति कर्म

और सृजनके दो सहस्र वर्षोंके बाद कुछ समयके लिये क्षीण हो चुकी थी या फिर अपनी क्षीणताके बहुत निकट पहुंच गयी थी और उसे संस्कृतसे जन-भाषाओंकी ओर तथा नयी बनती हुई प्रादेशिक जातियोंकी ओर संक्रमण करके अपने अंदर नवयौवनका संचार करनेके लिये सांस लेनेका अवकाश चाहिये था। उत्तरमें यह विजय काफी शीघ्रताके साथ प्राप्त हो गयी, यद्यपि वहां भी यह सर्वथा पूर्ण तो कई शताब्दियोंतक नहीं हो सकी, परंतु दक्षिण-ने, जैसे पूर्वकालमें प्राचीनतर देशीय साम्राज्यके विरुद्ध अपनी स्वतंत्रताको सुरक्षित रखा था उसी प्रकार अब भी उसे दीर्घ कालतक सुरक्षित रखा और विजयनगरके राज्यके अस्त तथा मराठोंके उदयके बीच कोई बहुत लंबा अंतराल नहीं था। राजपूतोंने अकबर और उसके उत्तराधिकारियोंके समयतक अपनी स्वतंत्रताको कायम रखा और अंतमें मुगलोंने कुछ अंशमें, अपने सेनापतियों और मंत्रियोंके रूपमें कार्य कर रहे राजपूत राजाओंकी सहायतासे ही पूर्व और दक्षिणपर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित किया। और फिर इसके स्थापित हो सकनेका एक कारण यह भी था कि––यह एक ऐसा तथ्य है जिसे प्रायः ही भुला दिया जाता है–– मुस्लिम शासनने अपना विदेशीपन बहुत शीघ्र ही छोड़ दिया। देशके मुसलमान, अपने बृहत्तर अंशमें, जातिकी दृष्टिसे भारतीय थे और हैं, पठान, तुर्क और मुगल रक्तका मिश्रण बहुत ही थोड़ी मात्रामें हुआ, और यहांतक कि विदेशी राजा तथा सरदार भी लगभग तुरंत ही मन, प्राण और रुचि-प्रवृत्तिमें पूर्णरूपेण भारतीय बन गये। यदि, कुछेक यूरोपीय देशोंकी भांति, भारतीय जाति विदेशी शासनके तले अनेक सदियोंतक वस्तुतः निष्क्रिय, संतुष्ट और निःशक्त रहती तो निःसंदेह यह एक महान् आभ्यंतरिक दुर्बलताका प्रमाण होता; पर सच पूछो तो ब्रिटिश राज्य ही वह पहला विदेशी शासन है जिसका भारतपर वस्तुतः निरंतर अधिकार रहा है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन सभ्यता मध्य एशियाई धर्म एवं संस्कृतिका, जिसके साथ यह घुल-मिल नहीं सकी, भारी दबाव पड़नेपर तिमिराच्छन्न होकर ह्रासको प्राप्त हो गयी, पर उसके दबावके बावजूद भी यह जीवित बची रही, अनेक दिशाओंमें उस-पर अपना दबाव डाला और ह्रासकी अवस्थामें भी हमारे अपने युगतक जीवित तथा पुन-रुत्थानमें समर्थ रही और इस प्रकार एक ऐसी सबलता एवं स्वस्थताका प्रमाण दिया जो मानव संस्कृतियोंके इतिहासमें विरले ही देखनेमें आती हैं। और राजनीतिक क्षेत्रमें महान् शासकों, राजनीतिज्ञों, सैनिकों और प्रशासकोंको प्रादुर्भूत करना इसने कभी नहीं बंद किया। अवनतिके समय इसकी राजनीतिक प्रतिभा अपनी अंतर्दृष्टि और क्रियाशीलतामें इतनी पर्याप्त नहीं थी, इतनी काफी संगत और तीव्र नहीं थी कि पठानों, मुगलों और यूरोपियनोंका सामना कर सके। परंतु यह जीवित बची रहने तथा पुनरुज्जीवनके प्रत्येक अवसरकी प्रतीक्षा करने-की सामर्थ्य रखती थी, इसने राना सांगाके नेतृत्वमें साम्राज्यकी प्राप्तिके लिये यत्न किया, विजयनगरके महान् साम्राज्यका निर्माण किया, राजपूतानाकी पहाड़ियोंमें सदियोंतक इस्लामके विरुद्ध डटा रहा, और अपने बुरे-से-बुरे दिनोंमें भी योग्यतम मुगल बादशाहोंकी समस्त शक्तिके

विरुद्ध शिवाजीका राज्य स्थापित किया और कायम रखा, मरहठा-राज्यसंघ और सिक्खोंके खालसा संप्रदायका संघटन किया, महान् मुगल साम्राज्यके भवनकी जड़ खोद डाली और एक वार फिर साम्राज्य-निर्माणके लिये अंतिम प्रयत्न किया। अवर्णनीय अंधकार, फूट और अव्यवस्थाके बीच जब यह अंतिम और लगभग सर्वनाशी पतनके किनारे खड़ी थी तब भी यह रणजीतसिंह, नाना फणनवीस और माधोजी सिंधियाको जन्म देकर इंगलैंडकी भवितव्यताकी अवश्यंभावी प्रगतिका विरोध कर सकी। परंतु ये तथ्य इस संभवनीय आरोपकी गुरुताको कम नहीं करते कि भारतीय सभ्यता केंद्रीय समस्याको देखने और सुलझानेमें तथा नियतिके एक ही अटल प्रश्नका उत्तर देनेमें असमर्थ रही, परंतु ह्रास-कालकी घटनाओंके रूपमें विचारे जानेपर ये एक काफी विलक्षण इतिहासका निर्माण करते हैं जिसकी उपमा ऐसी ही परिस्थितियोंमें, सुलभ नहीं, और तब निश्चय ही ये संपूर्ण प्रश्नको इस स्थूल स्थापनासे भिन्न एक और ही रंग-रूप दे देते हैं कि भारतवर्ष सदा ही परतंत्र और राजनीतिक दृष्टिसे अशक्त रहा है।

मुस्लिम विजयने जो समस्या पैदा कर दी वह वास्तवमें विदेशी शासनके प्रति अधीनता और पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करनेकी योग्यताकी नहीं बल्कि दो सभ्यताओंके पारस्परिक संघर्षकी थी। उनमेंसे एक थी प्राचीन और स्वदेशीय, दूसरी मध्ययुगीन तथा बाहरसे लायी हुई। जिस बातने समस्याके समाधानको दुःसाध्य बना दिया वह यह थी कि उनमेंसे प्रत्येक एक शक्तिशाली धर्मके प्रति आसक्त थी। उनमेंसे एकका धर्म युद्धप्रिय और आक्रमणकारी था, दूसरीका आध्यात्मिक दृष्टिसे तो अवश्य ही सहिष्णु और नमनीय था पर अपने साधनाभ्यासमें अपने सिद्धांतके प्रति दृढ़निष्ठ था और सामाजिक विधि-विधानोंकी दीवारके पीछे अपनी प्रतिरक्षा करनेके लिये कटिबद्ध रहता था। इसके दो समाधान समझमें आने योग्य थे, या तो एक ऐसे महत्तर आध्यात्मिक सिद्धांत एवं रचनाका उदय होता जो दोनों धर्मोंका समन्वय कर सकती अथवा एक ऐसी राजनीतिमूलक देशभक्तिका उदय होता जो धार्मिक संघर्षको अतिक्रम करके दोनों जातियोंको एक कर सकती। इनमेंसे पहला समाधान उस युगमें संभव ही नहीं था। अकबरने मुस्लिम पक्षकी ओरसे इसके लिये यत्न किया, परंतु उसका धर्म एक आध्यात्मिक रचना होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक एक बौद्धिक एवं राजनीतिक रचना था और उसे दोनों जातियोंके प्रबलतया धार्मिक मनसे स्वीकृति प्राप्त करनेका कभी कोई अवसर नहीं मिला। नानकने हिंदू पक्षकी ओरसे इसके लिये प्रयत्न किया, परंतु उनका धर्म अपने सिद्धांतमें सार्वभौम होनेपर भी व्यवहारमें एक संप्रदाय बन गया। अकबरने एक सर्वसामान्य राजनीतिमूलक देशभक्तिको उत्पन्न करनेका भी प्रयास किया, परंतु इस प्रयासका भी विफल होना पहलेसे ही नियत था। मध्य एशियाई सिद्धांतके आधारपर निर्मित एक निरंकुश साम्राज्य परम शक्तिशाली संयुक्त भारतके निर्माणार्थ समान रूपसे सेवा करनेके लिये दोनों जातियोंकी प्रशासकीय योग्यताका महान् व्यक्तियों, राजाओं और सरदारोंके

रूपमें आवाहन करके अपनी मनोवांछित राष्ट्रीय भावनाको नहीं उत्पन्न कर सका; उसके लिये जनताकी जीवंत स्वीकृतिकी आवश्यकता थी और वह उद्बोधक राजनीतिक आदर्शों तथा संस्थाओंके अभावके कारण सक्रिय रूप नहीं ग्रहण कर सकी। मुगल साम्राज्य एक महान् और ऐश्वर्यशाली रचना था और इसके निर्माण तथा रक्षणके लिये राजनीतिक प्रतिभा एवं दक्षता बहुत अधिक मात्रामें प्रयुक्त की गयी थी। यह किसी भी मध्ययुगीन या समकालीन यूरोपीय राज्य या साम्राज्यके समान ही भव्य, शक्तिशाली और कल्याणकारी था और, यह भी कहा जा सकता है कि, औरंगजेबकी कट्टरतापूर्ण हठधर्मीके होते हुए भी यह धार्मिक दृष्टिसे उसकी अपेक्षा अनंततः अधिक उदार और सहिष्णु था। इसके शासनमें भारत सामरिक और राजनीतिक शक्ति एवं आर्थिक समृद्धिमें तथा अपनी कला और संस्कृतिकी तेजस्वितामें अत्युन्नत था। परंतु यह भी अपनेसे पहलेके साम्राज्योंकी भांति, यहांतक कि उनसे भी अधिक अनिष्टकारी रूपमें, तथा उसी तरीकेसे असफल हो गया, अर्थात् इसका पतन भी बाह्य आक्रमण नहीं बल्कि आंतरिक विघटनके कारण हुआ। कोई सैनिक एवं प्रशासनिक केंद्रीभूत साम्राज्य भारतकी जीवंत राजनीतिक एकता नहीं संपादित कर सकता था। और यद्यपि प्रादेशिक जातियोंमें नया जीवन उदयोन्मुख प्रतीत होता था, तथापि इस बीच यूरोपीय जातियोंके घुस आने और पेशवाओंकी असफलता तथा उसके बादकी अराजकता और अधोगतिकी निराशापूर्ण अव्यवस्थासे उत्पन्न सुयोगको उनके हस्तगत कर लेनेके कारण नवजीवनके उस अवसरमें एकाएक व्याघात पड़ गया।

विघटनके इस कालमें भी दो अद्भुत रचनाएं प्रकट हुईं जो पुरानी अवस्थाओंमें नये जीवनका आधार स्थापित करनेके लिये भारतके राजनीतिक मानसका अंतिम प्रयत्न थीं, किंतु उनमेंसे कोई भी ऐसी नहीं सिद्ध हुई जो समस्याको सुलझा सकती। मरहठोंका पुनरुज्जीवन जिसे रामदासकी महाराष्ट्र-धर्म-विषयक परिकल्पनासे प्रेरणा मिली और जिसे शिवाजीने आकार प्रदान किया, इस बातके लिये प्रयत्न था कि प्राचीन रीति-नीति और भावनाका जो अंश आज भी समझ या स्मृतिमें आ सकता है उसका पुनरुद्धार किया जाय। परंतु यह प्रयत्न आध्यात्मिक प्रेरणाके तथा इसके सूत्रपातमें सहायता करनेवाली लोकतांत्रिक शक्तियोंके होते हुए भी विफल हो गया जैसे कि अतीतका पुनरुद्धार करनेवाले सभी प्रयत्न विफल होंगे ही। पेशवा अपनी समस्त प्रतिभाके होते हुए भी संस्थापककी अंतर्दृष्टिसे शून्य थे और वे केवल सैनिक एवं राजनीतिक महासंघ ही स्थापित कर सके। और एक साम्राज्यकी स्थापना करनेका उनका प्रयत्न सफल नहीं हो सका क्योंकि वह एक ऐसी प्रादेशिक राष्ट्रभक्तिसे प्रेरित हुआ था जो अपनी सीमाओंसे परे अपनेको विस्तारित करने तथा एकीभूत भारतके जीवंत आदर्शके प्रति जागृत होनेमें असफल रही। दूसरी ओर, सिक्खोंका खालसा संप्रदाय एक ऐसी रचना था जो आश्चर्यजनक रूपसे मौलिक तथा अनूठी थी और उसकी दृष्टि भूतपर नहीं भविष्यपर लगी हुई थी। अपने धर्मतांत्रिक नेतृत्व तथा अपनी जनतंत्रीय

भावना और रचनामें, अपने गभीर आध्यात्मिक आरंभमें तथा इस्लाम और वेदांतके गहनतम तत्त्वोंको संयुक्त करनेके प्रथम प्रयासमें स्वतंत्र और अद्वितीय होता हुआ भी वह मानव समाजकी तीसरी या आध्यात्मिक अवस्थामें प्रवेश करनेके लिये एक असामयिक प्रवृत्ति था, परंतु वह आत्मा और बाह्य जीवनके बीच समृद्ध सर्जनक्षम विचारधारा और संस्कृतिका एक संचारक माध्यम नहीं उत्पन्न कर सका। और इस प्रकार बाधाओं और त्रुटियोंसे ग्रस्त होनेके कारण वह संकीर्ण स्थानीय सीमाओंमें आरंभ हुआ और उन्हींमें समाप्त हो गया, उसने तीव्रता तो अधिगत की पर विस्तारकी क्षमता नहीं। उस समय वे अवस्थाएं विद्यमान ही नहीं थीं जिनमें वह प्रयत्न सफल हो सकता।

इसके बाद आयी रात्रि और समस्त राजनीतिक प्रेरणा और सृजनका अस्थायी अंत। अंतिम पीढ़ीने दासतापूर्ण निष्ठाके साथ पश्चिमके आदर्शों और आचारोंकी नकल करने एवं प्रतिकृति उतारनेका जो निर्जीव प्रयत्न किया वह भारतवासियोंकी राजनीतिक मनीषा एवं प्रतिभाका कोई सच्चा चिह्न नहीं है। परंतु अस्तव्यस्तताके समस्त कुहासेके बीच अभी भी एक नयी संध्याके, सायंकाल नहीं वरन् प्रातःकालकी युग-संध्याके फिरसे उदित होनेकी संभावना है। युग-युगका भारत मरा नहीं है, न उसने अपनी अंतिम सर्जनक्षम वाणी ही उच्चारित की है; वह जीवित है और उसे अपने लिये तथा (देश-देशके) मानव-समुदायोंके लिये अभी भी कुछ करना है। और जिसे अब जागरित होनेकी चेष्टा करनी होगी वह अंग्रेजियतमें रंगी कोई ऐसी पूर्वीय जाति नहीं जो पश्चिमकी आज्ञाकारिणी शिष्या हो तथा उसकी सफलता और विफलताके चक्रको दुहराना ही जिसके भाग्यमें बदा हो, अपितु वह प्राचीन एवं स्मरणातीत (भारत) शक्ति है जो अपनी गहनतम आत्माको फिरसे प्राप्त करेगी, ज्योति और शक्तिके परम उद्गमकी ओर अपना मस्तक पहलेसे भी ऊंचा उठाकर अपने धर्मके संपूर्ण मर्म तथा विशालतर रूपको खोजनेकी ओर अभिमुख होगी।

परिशिष्ट

भारतीय संस्कृति और बाह्य प्रभाव

भारतीय सभ्यता और इसके पुनरुत्थानपर विचार करते हुए मैंने सुझाव दिया था कि सभी क्षेत्रोंमें एक शक्तिशाली नव-निर्माण करना ही हमारी महान् आवश्यकता है, हमारे पुनरुत्थानका अर्थ तथा हमारी सभ्यताकी रक्षाका एकमात्र उपाय है। भारतको आज आधुनिक जीवन और चिंतनकी विशाल बाढ़का सामना करना पड़ रहा है, उसपर एक अन्य प्रबल सभ्यताका आक्रमण हो रहा है, जो उससे प्रायः ठीक उलटी है या, कम-से-कम, उसकी भावनासे अत्यंत भिन्न भावनाके द्वारा प्रेरित है। ऐसी दशामें वह तभी जीवित रह सकता है यदि वह इस अपरिपक्व, नये, आक्रमणशील तथा शक्तिशाली जगत्का सामना अपनी आत्माकी उन नयी दिव्यतर रचनाओंके द्वारा करे जो उसके अपने आध्यात्मिक आदर्शोंके सांचेमें ढली हुई हों। उसे इसका सामना इसकी महत्तर समस्याओंको अपने ही ढंगसे, अपनी सत्तामेंसे उद्भूत होनेवाले समाधानोंके द्वारा तथा अपने गभीरतम और विशालतम ज्ञानसे हल करके ही करना होगा——इस हलकी वह उपेक्षा नहीं कर सकता, चाहे ऐसी उपेक्षाको वांछनीय ही क्यों न समझा जा सकता हो। इस सिलसिलेमें मैंने कहा था कि पश्चिमके ज्ञान, इसकी धारणाओं और क्षमताओंमेंसे जो कुछ भी आत्मसात् करने योग्य है, उसकी मूल भावनाके साथ संगत है, उसके आदर्शोंके साथ मेल खा सकता है, जीवनके नये निरूपणके लिये मूल्यवान् है उस सबको उसे इससे ग्रहण करके आत्मसात् कर लेना चाहिये। बाहरसे पड़नेवाले प्रभाव और अंदरसे करने योग्य नवसृजनका यह प्रश्न अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है; इसपर विस्तारसे चर्चा करनेकी आवश्यकता है। विशेषकर, यह आवश्यक है कि हम इस विषयमें एक अधिक सुनिश्चित विचार बना लें कि ग्रहण करनेसे हमारा क्या मतलब है और आत्मसात् करनेका वास्तविक परिणाम क्या होगा; क्योंकि यह दूरतक प्रभाव डालनेवाली अत्यावश्यक समस्या है, जिसके संबंधमें हमें अपने विचारोंको स्पष्ट कर लेना होगा और दृढ़तापूर्वक तथा दूरदर्शिताके साथ अपनी समाधानकी पद्धति निश्चित करनी होगी।

परंतु ऐसी मान्यता रखना संभव है कि यद्यपि नवसृजन——पुराने रूपोंके प्रति अचल आसक्ति नहीं——हमारे जीवन और उद्धारका एकमात्र उपाय है, तथापि किसी पश्चिमी वस्तुको ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, हमें जिन चीजोंकी जरूरत है वे सब हमें अपने अंदर ही मिल सकती हैं; कोई भी मूल्यवान् वस्तु अपने अंदर छिद्र उत्पन्न किये बिना ग्रहण नहीं की

जा सकती और फिर वह छिद्र तो पाश्चात्य बाढ़की बाकी सभी चीजोंको अंदर बहा ले आयेगा। और, अगर मैंने समझनेमें भूल नहीं की है तो, बंगलाकी एक साहित्यिक पत्रिकामें[1] मेरे इन लेखोंपर जो टिप्पणी प्रकाशित हुई है उसका तात्पर्य भी यही है। यह पत्रिका इस आदर्शकी प्रस्थापना करती है कि नवसृजन पूर्णरूपेण राष्ट्रीय प्रणालीके आधारपर तथा राष्ट्रीय भावनाके अनुसार अंदरसे ही उद्भूत होना चाहिये। उक्त टिप्पणीके लेखक इस स्थापनाको, जो एक सार्वभौम मूल सिद्धांत है, अपना आधार बनाते हैं कि समस्त मानवजाति एक है, पर विभिन्न जातियां उसी सर्वसामान्य मानवजातिके विभिन्न आंतरात्मिक रूप हैं। जब हम उस एकताको प्राप्त कर लेते हैं तो विविधताका सिद्धांत खंडित नहीं हो जाता वरन् कहीं अधिक समर्थित ही हो जाता है; अपने-आपको, अर्थात् अपने विशिष्ट स्वभाव एवं सामर्थ्यको मिटाकर नहीं बल्कि उसका अनुसरण करके तथा उसकी स्वतंत्रता और क्रियाकी उच्चतम संभावनाओंतक उसे उठाकरके ही हम जीवंत एकतातक पहुंच सकते हैं। यह एक ऐसा सत्य है जिसपर स्वयं मैंने भी, मानवजातिके किसी प्रकारके राजनीतिक एकीकरणके संबंधमें आधुनिक विचार तथा प्रयत्नकी चर्चा करते हुए, यह कहकर बारंबार बल दिया है कि यह सामाजिक विकासके मनोवैज्ञानिक आशयका एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है, और फिर एक विशेष जातिके जीवन एवं संस्कृतिके, इसके सभी अंगों और अभिव्यक्तियोंके इस प्रश्न-की चर्चा करते हुए भी मैंने इस सत्यपर पुनः-पुनः जोर दिया है। मैं बलपूर्वक कह चुका हूं कि एकरूपता वास्तविक नहीं वरन् निर्जीव एकता है: एकरूपता जीवनका विनाश कर डालती है जब कि वास्तविक एकता, यदि उसकी नींव सुचारु रूपसे रखी जाय तो, विविधता-की प्रचुर शक्तिके द्वारा बलशालिनी और फलप्रद बन जाती है। परंतु उक्त लेखक यह भी कहते हैं कि पश्चिमी सभ्यताकी श्रेष्ठ बातोंको ग्रहण करनेका विचार एक मिथ्या धारणा है जिसका कोई सजीव अर्थ नहीं है; बुरेको त्यागकर अच्छेको ग्रहण कर लेनेकी बात सुननेमें बहुत अच्छी लगती है, परंतु यह बुरा और अच्छा इस प्रकार अलग-अलग नहीं किये जा सकते: ये एक ही सत्ताका एक ऐसा मिश्रित विकास हैं कि इन्हें एक-दूसरेसे जुदा नहीं किया जा सकता, ये बच्चेके मकान-रूपी खिलौनेके अलग-अलग टुकड़े नहीं हैं जो पास-पास रखे हुए हैं और आसानीसे अलग किये जा सकते हैं,—और भला खंड-खंड करके एक तत्त्वको ले लेने तथा शेषको छोड़ देनेका मतलब क्या है? यदि हम कोई पश्चिमी आदर्श ग्रहण करते हैं, तो उसे हम एक ऐसे जीवंत बाह्याचारसे ही लेते हैं जो हमें प्रभावित करता है; हम उस बाह्याचारकी नकल करते हैं, उसकी भावना एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके वशमें हो जाते हैं, और अच्छा और बुरा उस सजीव विकासमें परस्पर गुंथे हुए एक ही साथ हमपर टूट पड़ते हैं और अपना संयुक्त अधिकार स्थापित कर लेते हैं। सच पूछो तो दीर्घकालसे

---

[1]श्री सी. आर. दासद्वारा संपादित 'नारायण'।

हम पश्चिमका ऐसा ही अनुकरण करते आ रहे हैं, उस जैसे या कुछ-कुछ उस जैसे बननेका यत्न करते रहे हैं और यह सौभाग्यकी बात है कि हम इसमें सफल नहीं हुए, क्योंकि इसमें सफल होनेका अर्थ होता एक कृत्रिम या दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी रचना करना; परंतु जैसा कि टेनीसन (Tennyson) ने अपने लुक्रेटियस (Lucretius) के मुंहसे कहलाया है, दो प्रकृतियोंवाली संस्कृतिकी कोई भी प्रकृति नहीं होती और कृत्रिम संस्कृति कोई स्वस्थ संस्कृति नहीं होती, न ही वह सत्यको जीवनमें चरितार्थ करनेवाली होती है। अपने स्वरूप-को पूर्ण रूपसे पुनः प्राप्त कर लेना ही हमारे उद्धारका एकमात्र उपाय है।

मुझे लगता है कि इस विषयमें समर्थन और संशोधन दोनोंके रूपमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। परंतु पहले हम अपने शब्दोंके अर्थ स्पष्ट कर लें। इस बातसे मैं पूरी तरहसे सहमत हूं कि पिछली सदीमें यूरोपीय सभ्यताका अनुकरण करने और अपने-आपको एक प्रकारके काले-भूरे अंगरेज बनाने, अपनी प्राचीन संस्कृतिको कूड़ेदानमें फेंककर पश्चिमकी पोशाक या वर्दी पहननेका जो प्रयत्न किया गया और जो कुछ दिशाओंमें अब भी जारी है, वह एक भ्रांत तथा अनुचित प्रयत्न था। तथापि, हम प्रायः यहांतक कह सकते हैं कि कुछ मात्रामें, यहांतक कि एक बड़ी मात्रामें भी अनुकरण करना उस परिस्थितिकी एक जीव-शास्त्रीय आवश्यकता थी, और नहीं तो कम-से-कम एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता तो थी ही। केवल तभी नहीं जब कि एक हीनतर संस्कृति किसी महत्तर संस्कृतिके संपर्कमें आती है, बल्कि तब भी जब कि एक अपेक्षाकृत निष्क्रियता, निद्रा और संकुचनकी अवस्थामें गिरी हुई संस्कृतिको किसी जागृत, सक्रिय तथा भयानक रूपमें सर्जनशील सभ्यताका सामना करना पड़ता है, और इससे भी बढ़कर जब उसे ऐसी सभ्यताका एक सीधा आघात लगता है, जब वह विलक्षण और सफल शक्तियों तथा क्रियाओंको अपने ऊपर टूट पड़ते हुए अनुभव करती है, तथा नयी धारणाओं और रचनाओंकी एक बड़ी भारी श्रृंखला और विकासपरंपरा-को देखती है——तब वह जीवनकी सहजप्रवृत्तिके वश ही इन विचारों और रूप-रचनाओंको ग्रहण करने, इन्हें अपने साथ मिलाकर अपनेको समृद्ध बनाने, यहांतक कि इनकी नकल करने और प्रतिकृति उतारने, और किसी-न-किसी प्रकार इन नयी शक्तियों और नये अवसरोंको व्यापक रूपसे विचारमें लाकर इनसे लाभ उठानेके लिये प्रेरित होती है। यह एक ऐसी घटना है जो इतिहासमें, कम या अधिक मात्रामें, अंशतः या पूर्णतः, बारंबार घटित हुई है। परंतु, यदि केवल यंत्रवत् अनुकरण किया जाय, यदि अधीनता और दासताकी वृत्ति पैदा हो जाय, तो निष्क्रिय या अपेक्षाकृत दुर्बल संस्कृति नष्ट हो जाती है, उसे आक्रमणकारी ग्राह निगल जाता है। और इससे कम पतनकी अवस्थामें भी, जितना वह इन अवांछनीय वस्तु-ओंकी ओर झुकती है उतना वह क्षीण हो जाती है, नये विचारों और रूपोंको अपने साथ संयुक्त करनेके प्रयत्नमें असफल होती है; बल्कि उसके साथ-साथ अपने मूल भावकी शक्ति-को भी खो बैठती है। अपने केंद्रको फिरसे प्राप्त करना, अपने निजी आधारको ढूंढ़

निकालना तथा जो कुछ उसे करना हो उसे अपनी क्षमता और प्रतिभाके द्वारा करना ही, निःसंदेह, उद्धारका एकमात्र उपाय है। परंतु तब भी कुछ मात्रामें ग्रहण करना, बाह्याचारोंको भी अपनाना,––यदि बाह्याचारोंके किसी भी प्रकारके ग्रहणको अनुकरण ही कहा जाय तो कुछ अनुकरण भी करना,––अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ, साहित्यमें हमने और कई चीजोंको अपनानेके साथ-साथ उपन्यास, कथा-कहानी तथा आलोचनात्मक निबंधके रूपको अपना लिया है। इसी प्रकार, सायंस में हमने खोजों और आविष्कारोंको ही नहीं बल्कि अनुमानमूलक अनुसंधानकी क्रिया-प्रक्रियाको भी, राजनीतिमें प्रेस और प्लेटफार्मको, आंदोलनके रूपों और अभ्यासों तथा सार्वजनिक संघ-संगठनको अपना ही लिया है। मेरे ख्यालमें कोई भी व्यक्ति गंभीरताके साथ ऐसा नहीं सोचता कि हमारे जीवनमें ये जो आधुनिक चीजें जुड़ गयी हैं इन्हें विदेशी वस्तुएं होनेके कारण त्याग देना या बहिष्कृत कर देना चाहिये,–– यद्यपि ये सबकी सब, किसी प्रकार भी, विशुद्ध वरदान नहीं हैं। परंतु प्रश्न यह है कि इन चीजोंका उपयोग हम क्या करते हैं और आया हम इन्हें अपने मूल-भावके साधनोंके रूपमें तथा, किसी विशेष परिवर्तनके द्वारा, उसके सांचोंके रूपमें परिणत कर सकते हैं या नहीं। यदि हम ऐसा करते हैं तब तो समझो कि हमने इन्हें ग्रहण करके हजम कर लिया है; नहीं तो समझना चाहिये कि हमने लाचार होकर इनकी नकल भर की है।

परंतु बाह्याचारोंको ग्रहण करना ही इस विषयका मर्म नहीं है। जब मैं ग्रहण और हजम करनेकी बात कहता हूं तो मेरे मनमें वे विशेष प्रकारके प्रभाव, विचार तथा शक्ति-सामर्थ्य घूम रहे होते हैं जिन्हें यूरोप एक प्रबल जीवंत शक्तिके साथ सामने लाया है और जो हमारी अपनी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक सत्ताको जागृत तथा समृद्ध कर सकते हैं यदि हम एक जयशाली शक्ति और मौलिकताके साथ उनसे व्यवहार करनेमें सफल हो जायं, यदि हम उन्हें अपने अस्तित्वकी विशिष्ट प्रणालीके अंतर्गत करके उसकी निर्माणकारी क्रियाके द्वारा उन्हें रूपांतरित कर सकें। सच पूछो तो हमारे पूर्वज बाहरसे प्राप्त होनेवाले जिस भी ज्ञान या कलात्मक सुझावको ग्रहण करने योग्य या भारतीय ढंगसे व्यवहरणीय समझते थे उसे लेकर वे उसपर ऐसी ही क्रिया किया करते थे, वे अपनी मौलिकताको कभी नहीं गंवाते थे, न अपने अनुपम वैशिष्टयको ही नष्ट करते थे, क्योंकि वे सदा ही अंदरसे शक्तिशाली रूपमें सृजन करते थे। परंतु अच्छेको ग्रहण करने तथा बुरेको त्याग देनेके सूत्र-का मैं, निश्चय ही, एक अधकचरी वस्तुके रूपमें परिहार करूंगा। यह उन सहज सूत्रोंमेंसे एक है जो उथले मनको आकृष्ट कर लेते हैं पर अपनी परिकल्पनामें दुर्बल होते हैं। स्पष्टतः ही, यदि हम किसी वस्तुको "ग्रहण करें" तो उसका अच्छा और बुरा दोनों अंश अस्तव्यस्त रूपमें एक साथ घुस आयेंगे। उदाहरणार्थ, यदि हम उस भीषण, दैत्याकार और विवशकारी वस्तु, उस विकराल आसुरिक रचना, अर्थात् यूरोपीय व्यवसायवादको अपनायें,–दुर्भाग्यवश, परिस्थितियां हमें ऐसा करनेके लिये विवश कर रही हैं,––तो चाहे हम उसका

रूप अपनायें या उसका सिद्धांत, हम अधिक अनुकूल अवस्थाओंमें उसके द्वारा अपना वैभव तथा आर्थिक संबल तो बढ़ा सकते हैं, पर निश्चय ही हम उसके सामाजिक भेद, वैषम्य, नैतिक महामारियां और क्रूर समस्याएं भी मोल ले लेंगे, और तब, मेरी समझमें नहीं आता कि, हम जीवनमें आर्थिक लक्ष्यके दास बनने तथा अपनी संस्कृतिके आध्यात्मिक तत्त्वको गंवानेसे किस तरह बचेंगे।

परंतु, इसके अतिरिक्त, इस प्रसंगमें अच्छा और बुरा इन शब्दोंका कोई निश्चित अर्थ नहीं है, ये हमारी कोई सहायता नहीं करते। यदि मुझे इनका प्रयोग एक ऐसे क्षेत्रमें करना पड़े जहां इनका केवल सापेक्ष अर्थ ही हो सकता है, उदाहरणार्थ, आचारशास्त्रके नहीं वरन् जीवनोंके पारस्परिक आदान-प्रदानके विषयमें, तो पहले मुझे इनको यह सामान्य अर्थ देना पड़ेगा कि जो भी चीज मुझे अधिक घनिष्ठ और श्रेष्ठ रूपमें तथा आत्म-प्रकाशक सृजनकी अधिक महान् एवं यथार्थ संभावनाके साथ अपने-आपको ढूंढ़नेमें सहायता पहुंचाती है वह अच्छी है; जो चीज मुझे मेरी अपनी दिशासे भ्रष्ट कर देती है, जो चीज मेरी शक्ति एवं समृद्धिको तथा मेरी आत्मसत्ताकी विशालता एवं उच्चताको क्षीण और क्षुद्र कर देती है वह मेरे लिये बुरी है। यदि इनके भेदको इस रूपमें समझ लिया जाय तो मेरे विचारमें किसी भी गंभीरप्रकृति एवं विवेचनशील मनुष्यके सामने जो वस्तुओंकी तहमें जानेकी चेष्टा करता है, यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वास्तविक प्रश्न इस या उस छोटे-मोटे बाह्य आचारको ग्रहण करनेका नहीं है जिसका मूल्य केवल संकेतात्मक ही होता है, उदाहरणार्थ, विधवाओंका पुनर्विवाह, बल्कि प्रश्न है उन महान् प्रभावशाली विचारोंके साथ बरतनेका जैसे कि, जीवनके बाह्य क्षेत्रमें, सामाजिक और राजनीतिक स्वाधीनता, समानता और जनतंत्रके विचार हैं। यदि मैं इनमेंसे किसी विचारको ग्रहण करता हूं तो इसलिये नहीं कि ये आधुनिक या यूरोपीय हैं, जो अपने-आपमें कोई विशेषता जतलानेवाली बात नहीं है, वरन् इसलिये कि ये मानवीय हैं, क्योंकि ये आत्माके सम्मुख फलप्रद दृष्टिकोणोंको रखते हैं और मानवजीवनके भावी विकासके लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार हैं। जनतंत्रके प्रभावशाली विचारको ग्रहण करनेसे मेरा मतलब यह है कि स्वयं यह विचार प्राचीन यूरोपीय शासनतंत्र और समाजकी भांति प्राचीन भारतीय शासनतंत्र और समाजमें भी उसके एक अंगके रूपमें विद्यमान था, भले इसे पूर्ण रूपसे क्रियान्वित न किया गया हो—मेरे विचारमें अपने जीवन-यापनकी भावी प्रणालीके अंदर इसे किसी रूपमें समाविष्ट करना हमारे विकासके लिये आवश्यक है। आत्म-सात् करनेसे मेरा मतलब यह है कि हमें इसको स्थूल रीतिसे इसके यूरोपीय रूपोंमें नहीं ग्रहण करना चाहिये बल्कि जो चीज इसके अनुरूप है, इसके भावको आलोकित करती है तथा जीवन और सत्ता-संबंधी हमारी परिकल्पनामें इसके उच्चतम आशयका समर्थन करती है उसकी ओर हमें लौटना होगा, और उसी प्रकाशमें इसकी सीमा, मात्रा तथा रूप-रचनाको, अन्य विचारोंके साथ इसके संबंध तथा इसके प्रयोगको निर्धारित करना होगा। प्रत्येक

(ग्राह्य) वस्तुपर मैं इसी सिद्धांतका प्रयोग करूंगा, प्रत्येकपर उसके अपने प्रकार तथा उसके विशेष धर्मके अनुसार, उसके महत्त्व तथा उसकी आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक एवं व्यावहारिक उपयोगिताकी यथार्थ मात्राके अनुसार।

मैं इसे व्यक्तिगत सत्ताका एक स्वतःसिद्ध नियम समझता हूं जो प्रत्येक सामूहिक सत्तापर भी लागू हो सकता है कि बाहरसे हमारे अंदर आनेवाली सभी चीजोंको बहिष्कृत कर देना न तो वांछनीय है और न संभव। इसी प्रकार इस नियमको भी मैं इतना ही स्वयंसिद्ध मानता हूं कि एक सजीव सत्ताको जो बाह्य वृद्धिके द्वारा नहीं बल्कि स्व-विकास तथा आत्मसात्करणके द्वारा वर्धित होती है, अपने अंदर ग्रहण की हुई चीजोंको अपनी जीवविज्ञानीय या मनोवैज्ञानिक देहके नियम, आकार, तथा विशिष्ट कार्यके अनुकूल बनानेके लिये पुनः गठित करना चाहिये, जो चीज इसके लिये हानिकर या विषैली हो उसे त्याग करके,——और भला आत्मसात् न हो सकने योग्य वस्तुके सिवा वह और है ही क्या?——केवल उसी चीजको ग्रहण करना होगा जिसे आत्म-अभिव्यक्तिके उपयोगी उपादानमें परिणत किया जा सके। संस्कृतके एक उपयुक्त पदका, जो बंगला भाषामें भी प्रयुक्त होता है, प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि यह आत्मसात्करण है, चीजको जज्ब करके अपनी बना लेना है, उसे अपने अंदर स्थिर होकर अपनी सत्ताके विशिष्ट आकारमें परिणत होने देना है। किसी चीजका पूर्णतया बहिष्कार कर देना तो असंभव है और इसका कारण ठीक यही है कि हम एकतामें विभिन्नताका एक रूप-विशेष हैं जो अन्य समस्त सत्तासे वस्तुतः पृथक् नहीं है, बल्कि हमारे चारों ओरकी सभी वस्तुओंसे संबंध रखता है, क्योंकि जीवनमें यह संबंध आदान-प्रदानकी एक प्रक्रियाके द्वारा अत्यंत व्यापक रूपमें अपने-आपको प्रकट करता है। यदि पूर्ण रूपसे बहिष्कार करना संभव हो भी तो भी वह वांछनीय नहीं है और इसका कारण यह है कि चारों ओरकी चीजोंके साथ आदान-प्रदान स्वास्थ्यपूर्ण स्थायित्व एवं विकासके लिये आवश्यक है; जो सजीव सत्ता ऐसे समस्त आदान-प्रदानको त्याग देगी वह जड़ता एवं अवसादके कारण शीघ्र ही क्षीण होकर नष्ट हो जायगी।

मानसिक, प्राणिक और शारीरिक रूपसे मैं विशुद्ध पृथक्ताकी अवस्थामें अपने अंदरसे होनेवाले अविमिश्र आत्म-विकासके द्वारा ही नहीं विकसित होता; मैं कोई ऐसी पृथक् स्वयं-स्थित सत्ता नहीं हूं जो अपनी ही दुनियामें जहां उसके सिवा और कोई नहीं है और जहां उसकी आंतरिक शक्तियों और गभीर विचारणाओंके सिवा और कोई चीज क्रिया नहीं करती, एक पुरानी अभिव्यक्तिसे नयीकी ओर बढ़ रही हो। प्रत्येक व्यक्तिभावापन्न सत्तामें द्विविध क्रिया हो रही है, अंदरसे होनेवाला आत्म-विकास जो उसकी सत्ताकी सबसे बड़ी अंतरीय शक्ति है और जिसके द्वारा वह वह है, और बाहरसे आनेवाले आघातोंको ग्रहण करना जिनको कि उसे अपनी व्यष्टि-सत्ताके अनुकूल बनाकर आत्म-विकास और आत्म-क्षमताके साधनोंमें परिणत करना होता है। ये दोनों क्रियाएं एक-दूसरीका बहिष्कार करनेवाली नहीं हैं,

न दूसरी पहलीके लिये हानिकारक ही है; हां, यदि आंतरिक बुद्धिशक्ति इतनी दुर्बल हो कि अपने पारिपार्श्विक जगत्के साथ सफलतापूर्वक व्यवहार ही न कर सके तो दूसरी बात है; इसके विपरीत, आघातोंको ग्रहण करनेसे एक स्वस्थ और सबल सत्तामें आत्म-विकासकी शक्ति उद्दीप्त हो उठती है और साथ ही यह एक महत्तर तथा स्पष्टतः अधिक सहज-स्वाभाविक आत्म-निर्धारणमें भी सहायक होता है। जैसे-जैसे हम विकास-क्रममें ऊपर उठते हैं, हमें पता चलता है कि अंदरसे मौलिक विकास साधित करनेकी, सचेतन रूपसे आत्म-निर्धारण करनेकी शक्ति अधिकाधिक बढ़ती जाती है, यहांतक कि जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूपमें अपने अंदर निवास करते हैं उनमें यह आश्चर्यजनक, कभी-कभी तो प्रायः दिव्य परिमाणमें बढ़ जाती है। पर साथ ही हम यह भी देखते हैं कि बाह्य जगत्के आघातों और सुझावोंको अधिकृत करनेकी संबद्ध शक्ति भी उसी अनुपातमें बढ़ जाती है; जो लोग अत्यंत शक्तिशाली रूपमें अपने अंदर निवास करते हैं वे जगत् तथा इसके समस्त द्रव्योंको अत्यंत व्यापक रूपमें आत्माके लिये प्रयुक्त भी कर सकते हैं,—और, यह भी कहना होगा कि, वे ही अपनी सत्ताके द्वारा अत्यंत सफलतापूर्वक संसारकी सहायता कर सकते तथा इसे समृद्ध बना सकते हैं। जो मनुष्य अपनी अंतरात्माको सर्वाधिक उपलब्ध करता तथा उसीके द्वारा सर्वाधिक जीवन यापन करता है वही विश्वात्माका सर्वाधिक आलिंगन कर सकता तथा उसके साथ एक हो सकता है; **स्वराट्**, अर्थात् स्वतंत्र, आत्म-स्वामी और आत्म-शासक ही सर्वाधिक, **सम्राट्** बन सकता है, अर्थात् जिस जगत्में वह रहता है उसका स्वामी और निर्माता बन सकता है और साथ ही आत्मामें सबके साथ सर्वाधिक एकमय हो सकता है। यही वह सत्य है जिसकी शिक्षा यह विकसित होती हुई सत्ता हमें देती है और यह प्राचीन भारतीय अध्यात्म-ज्ञानके महत्तम रहस्योंमेंसे एक है।

अतएव अपनी आत्मामें निवास करना तथा अपनी सत्ताके धर्म, **स्वधर्म**, के अनुसार अपनी सत्ताके केंद्रसे अपनी आत्म-अभिव्यक्तिका निर्धारण करना ही सबसे पहली आवश्यकता है। ऐसा न कर सकनेका अर्थ है जीवनका विघटन; पर्याप्त रूपमें ऐसा न करनेका मतलब है शिथिलता, दुर्बलता, अकुशलता, चारों ओरकी शक्तियोंके द्वारा उत्पीड़ित और पराभूत किये जानेका भय; बुद्धिमत्ता और अंतर्ज्ञानके साथ, अपने आंतरिक करणोपकरणों तथा आंतरिक शक्तियोंका सबल रूपमें प्रयोग करते हुए ऐसा न कर सकनेका अर्थ है अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था और अंतमें जीवन-शक्तिका ह्रास और विनाश। परंतु अपने चारों ओरका जीवन हमारे सामने जो साधन-सामग्री प्रस्तुत करता है उसे काममें न ला सकना, सहजस्फुरित चुनाव और प्रबल प्रभुत्वपूर्ण सात्म्यकरणके साथ उसे अधिकारमें न लाना भी एक भारी त्रुटि है तथा हमारे अस्तित्वके लिये एक संकट है। एक स्वस्थ व्यष्टि-सत्ताके लिये कोई बाह्य समाघात या अंदर प्रवेश करनेवाली कोई शक्ति, विचार एवं प्रभाव एक ऐसे उत्तेजक-की तरह कार्य कर सकता है जो अंतःसत्ताको असामंजस्य, असंगति या विपत्तिकी भावनाके

प्रति सचेत कर दे, और तब एक संघर्ष उठ खड़ा होता है, उस बाह्य प्रभाव आदिका बहिष्कार करनेका आवेग और प्रक्रिया शुरू हो जाती है; परंतु इस संघर्ष, बहिष्कारकी इस प्रक्रियाके परिणामस्वरूप भी कुछ परिवर्तन एवं विकास साधित होता है, जीवनकी सामर्थ्य और साधन-सामग्रीमें कुछ वृद्धि होती है; इस आक्रमणके द्वारा सत्ताकी शक्तियोंको प्रेरणा और सहायता प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार, वह प्रभाव एक उद्दीपकके रूपमें भी कार्य कर सकता है और तुलना और सुझावके द्वारा तथा बंद द्वारोंको खटखटाकर एवं सुप्त शक्तियोंको जगाकर आत्म-चेतनताकी एक नयी क्रियाको और नवीन शक्यताके बोधको भी उद्बुद्ध कर सकता है। वह एक संभाव्य सामग्रीके रूपमें भी प्रवेश कर सकता है जिसे तब फिरसे आंतरिक शक्तिके एक आकारमें ढालना होता है, आंतरिक सत्ताके साथ समस्वर करके इसकी अपनी विशिष्ट आत्म-चेतनाके प्रकाशमें पुनः निरूपित करना होता है। परिस्थितिके महान् परिवर्तनके समय या बहुत-से आक्रामक प्रभावोंके साथ घनिष्ठ संपर्कके समय ये सब प्रक्रियाएं एक साथ कार्य करती हैं और संभवतः कुछ समयके लिये अत्यधिक कठिनाई और परेशानी होती है, संदेह और संकटसे भरी हुई कितनी ही क्रियाएं होती हैं, पर साथ ही एक महान् आत्मविकास-साधक रूपांतर या महत् और शक्तिशाली नवजन्मका अवसर भी प्राप्त होता है।

सामूहिक आत्मा वैयक्तिक आत्मासे इसी बातमें भिन्न होती है कि वह अनेक वैयक्तिक आत्माओंका समूह होने तथा अपने अंदर अनेक सामूहिक परिवर्तनोंके योग्य होनेके कारण अधिक आत्मावलंबी होती है। उसमें भीतर-ही-भीतर निरंतर आदान-प्रदान होता रहता है जो, शेष मानवजातिके साथ आदान-प्रदानके सीमित रहनेपर भी, जीवनी-शक्ति और अभिवृद्धिकी, तथा कार्यक्षेत्रको विकसित करनेकी शक्तिकी रक्षा करनेके लिये दीर्घकालतक पर्याप्त हो सकता है। यूनानी सभ्यताने,—मिस्र और फिनीशिया तथा अन्य पूर्वीय देशोंके प्रभावोंकी छत्रछायामें विकसित होनेके बाद,—अ-यूनानी "बर्बर" संस्कृतियोंसे अपने-आपको तीव्र रूपमें पृथक् कर लिया और कई शताब्दियोंतक वह प्रचुर परिवर्तनों तथा आंतरिक आदान-प्रदानकी सहायतासे अपने ही अंदर जीवित रहनेमें समर्थ हुई। प्राचीन भारतमें भी हम एक संस्कृतिका ऐसा ही दृष्टांत पाते हैं, वह चारों ओरकी सभी संस्कृतियोंसे गहरा विभेद रखती हुई अपने ही अंदरसे सबल रूपमें जीवन यापन करती थी। आंतरिक आदान-प्रदान और परिवर्तनोंकी और भी अधिक प्रचुरताके कारण इसकी जीवनी-शक्ति बनी रह सकी। चीनकी सभ्यता इस बातका एक तीसरा उदाहरण प्रस्तुत करती है। परंतु भारतीय संस्कृतिने कभी भी बाह्य प्रभावोंका पूर्ण बहिष्कार नहीं किया; बल्कि बाह्य तत्त्वोंको चुनावपूर्वक आत्मसात् करने, उन्हें अधीन रखने तथा रूपांतरित करनेकी अति महान् शक्ति उसकी प्रक्रियाओंकी एक विशेषता थी; उसने प्रत्येक बड़े या दुर्धर्ष आक्रमणसे अपनी रक्षा की, परंतु जिस भी चीजने उसे आकर्षित या प्रभावित किया उसे उसने अधिकृत करके अपनेमें मिला लिया और मिलानेकी इस क्रियामें उसने उसे एक ऐसे विशिष्ट परिवर्तनमेंसे गुजरनेके लिये बाध्य किया जिसने

नये तत्त्वको उसकी अपनी संस्कृतिकी भावनाके साथ समस्वर बना दिया। किंतु आजकल कोई वैसी प्रबल पृथक्कारी उदासीनता, जो कि प्राचीन सभ्यताओंकी विशेषता थी, संभव नहीं रही; मनुष्यजातिकी अंगभूत सभी जातियां एक-दूसरीके अतीव निकट आ गयी हैं, वे एक प्रकारकी अपरिहार्य जीवन-एकतामें बलात् संयुक्त की जा रही हैं। हमारे सामने आज एक अधिक कठिन समस्या उपस्थित है कि इस महत्तर परस्पर-क्रियाके पूर्ण दबावके अधीन हम कैसे जीवन यापन करें तथा इसके समाधानोंपर अपनी सत्ताका नियम कैसे लागू करें।

यह तो पहलेसे ही निश्चित है कि यूरोपके आक्रमणके पूर्व हम जो कुछ थे ठीक वही बने रहने या भविष्यमें आधुनिक परिस्थिति एवं आवश्यकताके दावोंकी उपेक्षा करनेका कोई भी प्रयत्न स्पष्टतः ही असफल होगा। बीचके उस युगकी, जिसमें हम पश्चिमी दृष्टिकोणसे अभिभूत थे, कुछ एक विशेषताओंपर हम चाहे कितना ही अधिक दुःख-शोक क्यों न मनायें, अथवा उस दृष्टिकोणसे पीछे हटकर जगत्को देखनेके अपने विशिष्ट तरीकेकी ओर चाहे कितना ही क्यों न अग्रसर हों, फिर भी उसने हमारे अंदर जो अनिवार्य परिवर्तन पैदा किया है उसके एक विशेष तत्त्वसे हम छुटकारा नहीं पा सकते, ठीक वैसे ही जैसे कि कोई मनुष्य अपने जीवनमें, कुछ साल पहले वह जो कुछ था उस ओर लौटकर अपनी अतीत मनोवृत्तिको पूर्ण तथा अक्षुण्ण रूपमें नहीं प्राप्त कर सकता। काल और उसके प्रभाव उसके ऊपरसे केवल गुजर ही नहीं गये हैं, अपितु अपने प्रवाहमें उसे आगे बहा ले गये हैं। हम अपनी सत्ताके एक अतीत रूपकी ओर पीछे नहीं हट सकते, परंतु हम, निःसदेह, आगे बढ़कर अपने-आपको फिरसे एक व्यापक रूपमें प्राप्त कर सकते हैं और अपनी इस प्रगतिमें हम बीचके अनुभवका अधिक अच्छा, अधिक जीवंत, अधिक वास्तविक तथा अधिक आत्म-प्रभुत्वपूर्ण प्रयोग करेंगे। अपने अतीतके महान् भाव और आदर्शोंकी मूल भावनामें हम आज भी फिरसे विचार कर सकते हैं, परंतु हमारे विचारने और बोलनेका रूप तथा अतीत भाव और आदर्शोंका हमारा निरूपण नये विचार और अनुभवके अस्तित्वके ही कारण बदल चुका है; उन्हें हम आज पुराने ही नहीं बल्कि नये प्रकाशोंमें भी देखते हैं, हम उन्हें नये दृष्टिबिंदुओंकी बढ़ी हुई शक्तिके द्वारा संपुष्ट करते हैं, यहांतक कि जिन पुराने शब्दोंका हम व्यवहार करते हैं वे भी हमारे लिये एक परिवर्तित, अधिक विस्तृत एवं अधिक समृद्ध अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। और फिर, किसी संकुचित प्रथानुगत अर्थमें हम "केवल अपने-आप" ही नहीं बने रह सकते, क्योंकि हमें अनिवार्यतः ही अपने चारों ओरके आधुनिक जगत्का विचार करना तथा इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना होगा, नहीं तो हम जीवित ही नहीं रह सकते। परंतु वस्तुओंको इस प्रकार विचारमें लाना एवं समस्त बढ़ा हुआ ज्ञान हमारी आभ्यंतरिक सत्तामें परिवर्तन लाता है। मेरा मन, अपने ऊपर निर्भर रहनेवाले सत्ताके सभी भागोंके साथ, जिस चीजपर अपनी दृष्टि डालता तथा क्रिया करता है उसके द्वारा परिवर्तित हो जाता है, जब यह उससे विचारकी नयी सामग्री ग्रहण करता है तब परिवर्तित होता है, जब यह अपनी

प्रेरणाके द्वारा नयी कार्य-प्रवृत्तियोंकी ओर जागरित होता है तब परिवर्तित होता है, यहांतक कि जब यह उसका निषेध और बहिष्कार करता है तब भी यह परिवर्तित होता है; क्योंकि एक पुराना विचार या सत्य भी जिसे मैं एक विरोधी विचारके मुकाबलेमें बलपूर्वक स्थापित करता हूं, स्थापना और बहिष्कारके उस प्रयत्नमें मेरे लिये एक नया विचार बन जाता है, नये पहलुओं और परिणामोंका जामा धारण कर लेता है। इसी प्रकार मेरा जीवन भी, जीवन-संबंधी जिन प्रभावोंका इसे मुकाबला और सामना करना पड़ता है उनके द्वारा परिवर्तित होता है। अंतमें एक बात यह भी है कि हम आधुनिक जगत्के महान् प्रभावशाली विचारों और समस्याओंके साथ संबंध रखनेसे बच नहीं सकते। आधुनिक जगत् अबतक भी मुख्य रूपसे यूरोपमय है, अर्थात् यह एक ऐसा जगत् है जिसपर यूरोपीय मनोवृत्ति और पश्चिमी सभ्यताका आधिपत्य है। हम इस अनुचित प्रधानतामें सुधार करने, एशियाई और, अपने लिये, भारतीय मनोवृत्तिका प्रभुत्व पुनः स्थापित करने तथा एशियाई एवं भारतीय सभ्यताके महान् मूल्योंका रक्षण और विकास करनेका दावा करते हैं। परंतु एशियाई या भारतीय मानस अपने प्रभुत्वको सफलतापूर्वक तभी स्थापित कर सकता है जब कि वह उन समस्याओंका सामना करके इनका एक ऐसा हल निकाले जो उसके अपने आदर्शों तथा मूलभावका समर्थन करे।

जिस सिद्धांतकी मैंने प्रस्थापना की है वह हमारी प्रकृतिकी आवश्यकता तथा वस्तुस्थिति एवं जीवनकी आवश्यकता दोनोंका परिणाम है। वह सिद्धांत है—अपनी मूल भावना, प्रकृति तथा अपने आदर्शोंके प्रति निष्ठा, नये युग और नयी परिस्थितिमें अपने स्वभावानुगत रूपोंका सृजन, पर साथ ही बाह्य प्रभावोंके साथ सबल और प्रभुत्वपूर्ण रूपमें व्यवहार, जिसका रूप पूर्ण बहिष्कार ही हो यह आवश्यक नहीं और आज वस्तुस्थितिको देखते हुए, वह व्यवहार इस प्रकारका हो भी नहीं सकता; अतएव एक सफल आत्मसात्करणके तत्त्वका होना आवश्यक है। अब रह गया इस सिद्धांतके प्रयोगका,—प्रयोगकी मात्रा, उसके प्रकार और मार्गदर्शक अनुभवोंका—अत्यंत कठिन प्रश्न। इसपर विचार करनेके लिये हमें संस्कृतिके प्रत्येक क्षेत्रपर दृष्टिपात करना होगा और भारतीय मूलभाव और भारतीय आदर्श क्या हैं इसके ज्ञानको सदा दृढ़तापूर्वक पकड़े रखकर यह देखना होगा कि इनमेंसे प्रत्येक क्षेत्रमें वे वर्तमान स्थिति और संभावनाओंपर किस प्रकार क्रिया करके नयी जयशाली रचनाकी ओर ले जा सकते हैं। इस प्रकारका विचार करनेमें अत्यंत हठधर्मी बननेसे काम नहीं चलेगा। प्रत्येक योग्य भारतीय विचारकको चाहिये कि वह इसपर विचार करे अथवा, अधिक अच्छा यह होगा कि जैसे बंगालके कलाकार इसे अपने क्षेत्रमें क्रियान्वित कर रहे हैं, वैसे ही वह भी इसे अपने ज्ञान और बलके अनुसार कार्यान्वित करे, तथा इसपर कुछ प्रकाश डालने या इसे चरितार्थ करनेमें योगदान दे। उसके बाद भारतीय पुनरुत्थानकी भावना, विश्वव्यापी काल-पुरुषकी वह शक्ति ही, जिसने नये और अधिक महान् भारतके निर्माणके लिये हमारे बीच विचरण करना आरंभ कर दिया है, बाकी चीजोंकी सुध आप ही ले लेगी।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५ की पूरी फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ६), सजिल्द ८)। सन् ४७ का ३रा और ४ था अंक। मूल्य प्रति अंक १।।)।

अन्य फाइलें

सन् ५१ और ५२ की भारत माता की फाइलें अर्चना विशेषांक सहित। प्रति फाइल ६)।
सन् ४७, ४८, ४९ और ५० की 'अर्चना' की फाइलें प्राप्य हैं। मूल्य प्रति अंक ४।।)

